Registration No. V-36244/2008-09 **ISSN :- 2350-0611**

The journal has been listed in 'UGC Approved List of Journals' with Journal No. – 48441 in previous list of UGC

JIFE Impact Factor – 7.23

Research Highlights

A Multidisciplinary Quarterly International Peer Reviewed Referred Research Journal

Editor
Dr. Kamlesh Kumar Singh
Assistant Professor
Department of Sociology
Pt. D.D.U. Govt. Girls P.G. College
Sevapuri, Varanasi

Volume - XIII **No. - 1** **(Jan. – Mar. 2026)**

(Part – II)

Published by
Future Fact Society
Varanasi (U.P.) India

Research Highlights - *A Referred Journal, Published by : Quarterly*

Correspondence Address :
C 4/270, Chetganj
Varanasi, (U.P.)
Pin. - 221 010
Mobile No. :- 09336924396
Email- researchhighlights1@gmail.com

Note :-

The views expressed in the journal "Research Highlights" are not necessarily the views of editorial board or publisher. Neither any member of the editorial board nor publisher can in anyway be held responsible for the views and authenticity of the articles, reports or research findings. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Managing Editor
Avinash Kumar Gupta

©Publisher

ISSN : 2350-0611

Printed by
Interface Computer, B 31/13-6, Malviya Kunj, Lanka, Varanasi-221005 (U.P.)

ADVISORY BOARD

- **Prof. T. N. Singh,** United Nations Professor of Plant Physiology, Department of Plant Sciences, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Prof. S.K. Bhatnagar,** School for Legal Studies, BBAU, Lucknow
- **Prof. (Dr.) Munna Singh**, Head of Department, Physical Education and Sports Sciences Department, Handia P.G. College, Handia, Prayagraj, U.P.
- **Dr Achchhe Lal Yadav**, Assistant Professor, Physical Education, Pt. D. D. U. Government Degree College, Saidpur, Ghazipur
- **Dr. Pramod Rao,** Assistant Professor, Department of Hindi, VBS Purvanchal University, Jaunpur
- **Dr. Anil Pratap Giri,** Assistant Professor, Department of Sanskrit, Pondicherry Central University, Pondicherry.

ଔ

EDITORIAL BOARD

- **Dr. Sanjay Singh,** Department of Plant Science, University of Gondar, Ethiopia (Africa)
- **Dr. Diwakar Pradhan,** Professor in Nepali, Head, Deptt. of Indian Languages Faculty of Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Shailendra Singh,** Professor and Head, Department of Sociology, J.S. University, Sikohabad, U.P.
- **Dr. Manish Arora,** Associate Professor, Faculty of Visual Arts, Banaras Hindu University, Varanasi
- **Dr. Surjoday Bhattacharya,** Assistant Professor, Government Degree College, Pratapgarh U P
- **Dr. Upasana Ray,** Associate Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Krishna Kant Tripathi,** Assistant Professor, Deptt. of Education, Central University of Mijoram, Mijoram
- **Dr. Urjaswita Singh,** Assistant Professor, Department of Economics, M.G. Kashi Vidyapith, Varanasi.
- **Dr. Satyapal Yadav,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Brajesh Kumar Prasad,** Assistant Professor, Department of History, Banaras Hindu University, Varanasi.
- **Dr. Dewendra Pratap Tiwari,** Assistant Professor, Department of Political Science, Shree Lakshmi Kishori Mahavidyalaya (A Constituent Unit of BRA Bihar University, Muzaffarpur), Bihar

- **Dr. Hena Hussain,** Assistant Professor, Department of Psychology, Oriental College, Patna City (A Constituent Unit of Patliputra University, Patna), Bihar
- **Dr. Santosh Kumar Singh,** Assistant Professor, P.G. Department of Psychology, J.P. University. Chapra
- **Dr. Ramkirti Singh,** Assistant Professor, Department of Psychology, Gorakhpur University, Gorakhpur
- **Dr. Girish Kumar Tiwari,** Assistant Professor, National Council of Educational Research and Training, New Delhi
- **Dr. Vaibhav Kaithvas,** Assistant Professor, Department of Performing Art, Eklavya University, Sagar Road, Damoh, MP
- **Dr. Ranjeet Kumar Ranjan,** Assistant Professor, Department of Psychology, J.P. College, Narayanpur, Bihar
- **Dr. Paromita Chaubey,** Faculty of Education, Banaras Hindu University, Varanasi

EDITOR'S NOTE

It is a great honour to me to extend my warm greetings and welcome you all to the journal, **Research Highlights,** a refereed journal of multi disciplinary research. The journal, which is a peer-reviewed, will devote to the promotion of multi-disciplinary research and explorations to the South Asian and global community. It is our objective to provide a platform for the publication of new scholarly articles in the rapidly growing field of various disciplines. We are trying to encourage new research scholars and post graduate students by publishing their papers so that they may learn and participate in literary publishing through a professional internship. Scholarly and unpublished research articles, essays and interviews are invited from scholars, faculty researchers, writers, professors from all over the world.

Note: All outlook and perspectives articulated and revealed in our peer refereed journal are individual responsibility of the author concerned. Neither the editors nor publisher can be held responsible for them anyhow. Plagiarism will not be allowed at any level. All disputes are subject to Varanasi (Uttar Pradesh) Jurisdiction only.

Hoping all of you shall enjoy our endeavors and those of our contributors.

Editor

CONTENTS

"Research Highlights"

➲	बौद्ध एवं जैन धर्म में महिलाओं की सामाजिक एवं दार्शनिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन ***शुभम तिवारी***	01-05
➲	हिन्दू धर्म और नारी ***सौरभ कान्त त्रिपाठी***	06-09
➲	मध्याह्न भोजन कार्यक्रम का छात्रों की उपस्थिति एवं नामांकन पर प्रभाव (इलाहाबाद जिले के मेजा क्षेत्र में स्थित प्राथमिक विद्यालयों पर आधारित अध्ययन) ***मनीषा*** ***हेमंत कुमार निराला***	10-15
➲	भारत में प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के प्रोत्साहन में दैनिक समाचार पत्रों की भूमिका ***डॉ. कमल कुमार पटेल***	16-18
➲	बौद्धकालीन शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का योगदान ***डॉ. मनोज कुमार यादव***	19-23
➲	कथक नृत्य का विकासः धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आधुनिक परिवेश में एक दृष्टिपात ***श्रेया चित्रांशी*** ***डॉ. बीना सिंह***	24-28
➲	बस्तर के दंतेवाडा में स्थित प्राचीन मंदिर का ऐतिहासिक वाद्य "रायगुड़ी" ***डॉ. पुनीत पटेल***	29-31
➲	अनुबंधित श्रम का उत्पादन : प्रवासन के कारणों का आलोचनात्मक अध्ययन (1834–1917) ***विजय प्रकाश सिंह***	32-36
➲	मधुमेह रोगियों पर सामाजिक सहयोग का प्रभाव : एक समीक्षा ***विकास कुमार*** ***डॉ. रवि रंजन***	37-42
➲	पर्यावरण संरक्षण में विद्यार्थियों का योगदान ***डॉ. सुमन कुमारी***	43-46
➲	दलित और आदिवासी महिला लेखकों का साहित्य – तुलनात्मक अध्ययन ***डॉ. पुनीता कुमारी***	47-49
➲	जनजातीय समुदायों में बदलते आजीविका के स्वरूपः एक व्यापक अध्ययन ***डॉ. ज्योति ठाकुर***	50-58
➲	श्रीमद्भागवत्पुराण में अष्टांगयोग का स्वरूपविमर्श ***डॉ. अमृता मिश्रा***	59-61
➲	समाज में अपराधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण ***डॉ. अशोक कुमार खोरवाल***	62-68
➲	ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी : परम्परा, संरचना और विशिष्टता ***राधा सिंह*** ***डॉ. रंजना द्विवेदी***	69-73
➲	शांकर अद्वैत वेदान्त में परमार्थ सत् ***त्रिशूलधारी सिंह*** ***डॉ. अखण्ड प्रताप सिंह***	74-76

बौद्ध एवं जैन धर्म में महिलाओं की सामाजिक एवं दार्शनिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन

शुभम तिवारी*

सारांश

प्रस्तुत शोध बौद्ध एवं जैन धर्म में महिलाओं की सामाजिक एवं दार्शनिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन है। छठी शताब्दी ईसा पूर्व में उभरी ये दोनों श्रमण परंपराएँ वैदिक कर्मकांड एवं जातिगत भेदभाव के विरुद्ध एक प्रगतिशील वैकल्पिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं। बौद्ध धर्म में भिक्षुणी संघ की स्थापना ऐतिहासिक कदम था, जिसने स्त्रियों को संन्यास, शिक्षा और निर्वाण का अधिकार दिया। थेरिगाथा जैसे ग्रंथों में अनेक भिक्षुणियों की आध्यात्मिक उपलब्धियाँ दर्ज हैं। तथापि, बुद्ध ने स्त्री-प्रव्रज्या के लिए आठ गरुधर्म (शर्तें) लगाकर उन्हें भिक्षुओं के अधीनस्थ बनाए रखा। जैन धर्म में आत्मा की समानता के सिद्धांत के आधार पर स्त्री को मोक्ष की अधिकारिणी माना गया है। श्वेतांबर परंपरा स्त्री-मोक्ष स्वीकार करती है, जबकि दिगंबर परंपरा में इस पर मतभेद है। जैन साहित्य में साध्वियों, श्राविकाओं और तीर्थंकरों की माताओं के माध्यम से स्त्री की सक्रिय भूमिका उजागर होती है। दोनों धर्मों में स्त्री की स्थिति एक अंतर्निहित द्वंद्व लिए है–एक ओर सैद्धांतिक समानता, दूसरी ओर व्यावहारिक सीमाएँ। निष्कर्षतः, बौद्ध एवं जैन धर्म ने अपने समय में स्त्री को अभूतपूर्व अवसर प्रदान किए, फिर भी पूर्ण लैंगिक समानता का आदर्श इन परंपराओं में भी अधूरा ही रहा।

बीज शब्द- बौद्ध, जैन धर्म, स्त्री, भिक्षुणी, श्वेतांबर एवं दिगंबर, गरुधर्म, मोक्ष, थेरिगाथा, साध्वी

प्रस्तावना

भारतीय धार्मिक परंपरा में स्त्री की स्थिति सदैव विमर्श का विषय रही है। वैदिक काल के उत्तरार्ध में जब कर्मकांड और जातिगत असमानताएँ चरम पर थीं, तब श्रमण परंपरा के अंतर्गत बौद्ध एवं जैन धर्म ने समता, करुणा और अहिंसा पर आधारित एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। इन धर्मों ने जन्म एवं लिंग के आधार पर श्रेष्ठता की अवधारणा को चुनौती देते हुए व्यक्ति की नैतिक साधना को ही मोक्ष का साधन बताया। बौद्ध धर्म के संस्थापक गौतम बुद्ध ने भिक्षुणी संघ की स्थापना कर स्त्रियों को आध्यात्मिक पथ पर चलने का अधिकार प्रदान किया। जैन धर्म में भगवान महावीर ने आत्मा की दृष्टि से स्त्री-पुरुष में कोई भेद नहीं माना। दोनों धर्मों में स्त्रियाँ साध्वी, श्राविका, भिक्षुणी, उपाध्यायिका एवं कवयित्री के रूप में प्रतिष्ठित हुईं। थेरिगाथा और जैन आगम ग्रंथ इसके प्रमाण हैं। तथापि, व्यावहारिक स्तर पर दोनों परंपराओं में स्त्रियों पर कुछ प्रतिबंध भी लगाए गए। बौद्ध धर्म में आठ गरुधर्म तथा जैन धर्म में दिगंबर परंपरा का स्त्री-मोक्ष-विरोध इसके उदाहरण हैं। यह अध्ययन इन दोनों धर्मों में महिलाओं की सामाजिक एवं दार्शनिक स्थिति का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करेगा, जिससे भारतीय धार्मिक परंपरा में स्त्री की भूमिका को वस्तुनिष्ठ रूप से समझा जा सके।

भारतीय धार्मिक एवं दार्शनिक परंपरा में स्त्री की स्थिति सदैव केन्द्रीय विमर्श का विषय रही है। वैदिक एवं उत्तरवैदिक काल से लेकर श्रमण परंपरा तक, समाज में स्त्री की भूमिका, उसके अधिकार, शिक्षा तथा आध्यात्मिक उन्नति के अवसरों को लेकर विभिन्न एवं कभी-कभी परस्पर विरोधी दृष्टिकोण विकसित हुए। बौद्ध और जैन धर्म, जो श्रमण परंपरा के प्रमुख प्रतिनिधि हैं, सामाजिक समानता, करुणा, अहिंसा और नैतिकता पर आधारित धर्मों के रूप में उभरे। इन दोनों धर्मों ने अपने समय की रूढ़ सामाजिक संरचनाओं को चुनौती देते हुए स्त्री के विषय में अपेक्षाकृत प्रगतिशील दृष्टिकोण प्रस्तुत किया। बौद्ध एवं जैन धर्म का उद्भव

* Assistant Professor (Hindu Studies), & Research Scholar, Dr. Babasaheb Ambedkar Open University, Mobile: 7518455490, Mail id:shubhambrh50@gmail.com

ईसा-पूर्व छठी शताब्दी के आसपास उस समय हुआ, जब वैदिक कर्मकांड, जातिगत भेदभाव और सामाजिक असमानताएँ गहराई से व्याप्त थीं। ऐसे परिवेश में महात्मा बुद्ध और भगवान महावीर ने ऐसे धर्मों का प्रतिपादन किया, जिनका मूल उद्देश्य मानव-जीवन को नैतिकता, करुणा, अहिंसा और आत्मिक शुद्धि के माध्यम से मुक्त करना था। इन धर्मों ने जन्म, जाति और लिंग के आधार पर श्रेष्ठता की अवधारणाओं को चुनौती दी तथा व्यक्ति की नैतिक साधना को ही मोक्ष का साधन बताया। इसी कारण, इन धर्मों में स्त्री की स्थिति एक महत्वपूर्ण दार्शनिक एवं सामाजिक मुद्दा बन जाती है।

बौद्ध धर्म में करुणा, प्रज्ञा और समता को केन्द्रीय मूल्य माना गया है। भगवान बुद्ध ने जीवन के दुःखों का समाधान अष्टांगिक मार्ग में निहित बताया और यह स्वीकार किया कि स्त्री भी उतनी ही आध्यात्मिक क्षमता रखती है जितनी पुरुष। भिक्षुणी संघ की स्थापना बौद्ध धर्म के इतिहास में एक क्रांतिकारी घटना मानी जाती है, क्योंकि इसके माध्यम से स्त्रियों को संन्यास, शिक्षा और निर्वाण-प्राप्ति का औपचारिक अधिकार मिला। थेरिगाथा जैसे ग्रंथों में अनेक बौद्ध भिक्षुणियों के आत्मानुभव और साधना-सिद्धि का उल्लेख मिलता है, जो यह सिद्ध करता है कि बौद्ध धर्म में स्त्रियाँ केवल अनुयायी नहीं, बल्कि आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में भी प्रतिष्ठित थीं।

जैन धर्म का आधार अहिंसा, अपरिग्रह और तपस्या है। भगवान महावीर ने आत्मसंयम और तप के माध्यम से मोक्ष को संभव बताया। जैन परंपरा में स्त्री को श्राविका, साध्वी और तपस्विनी के रूप में सम्मानजनक स्थान प्राप्त है। विशेषतः श्वेतांबर परंपरा में स्त्री को मोक्ष की अधिकारी माना गया है और जैन साहित्य में अनेक साध्वियों के तप, व्रत और धार्मिक योगदान का उल्लेख मिलता है। यद्यपि दिगंबर परंपरा में स्त्री-मोक्ष को लेकर मतभेद पाए जाते हैं, फिर भी सामाजिक और धार्मिक जीवन में स्त्रियों की सक्रिय भूमिका को नकारा नहीं जा सकता।

बौद्ध धर्म में स्त्री की स्थिति: सैद्धान्तिक समानता और व्यावहारिक सीमाएँ

महात्मा बुद्ध ने प्रारम्भ में स्त्रियों को संघ-प्रवेश की अनुमति नहीं दी थी, परन्तु आनन्द के आग्रह पर उन्होंने यह मार्ग खोल दिया और भिक्षुणियों के लिए पृथक संघ की व्यवस्था की। बौद्ध भिक्षुणी संघ की स्थापना भिक्षु संघ के कुछ समय पश्चात् हुई। इस संघ में स्त्रियों को भिक्षुओं के नियंत्रण में रहना पड़ता था; उन्हें उपदेश सुनने के लिए भिक्षुओं के समीप जाना आवश्यक था। बुद्ध ने आनन्द से यह भी कहा था कि स्त्री-प्रव्रज्या के कारण अब धर्म चिरस्थायी नहीं रहेगा। यह कथन स्त्री के कामिनी रूप की कटु आलोचना के रूप में देखा जाता है, जो बौद्ध दृष्टिकोण के आंतरिक द्वंद्व को दर्शाता है। तथापि, बुद्ध ने अपने अनुयायियों और गृहस्थियों को यह उपदेश दिया कि वे अपनी स्त्रियों को मित्र समझें, उन पर विश्वास रखें, उनका सम्मान करें तथा उन्हें वस्त्राभूषण प्रदान करें। बुद्ध ने स्पष्ट रूप से कहा कि निर्वाण की प्राप्ति न केवल ब्राह्मण को, अपितु सभी मनुष्यों और स्त्रियों को भी हो सकती है। बौद्ध ग्रंथों में खेमा, भद्राकुण्डलकेशा, सुभा, सुमेधा, अनोपमा, सुभद्रा, उपरा तथा उदुम्बरा जैसी अनेक विदुषी महिलाओं के उल्लेख मिलते हैं। तथागत ने भिक्षुणी संघ की स्थापना कर सर्वप्रथम अपनी मौसी प्रजापति गौतमी को संघ में प्रव्रजित किया, जिसका विवरण विनय पिटक के चुल्लवग्ग में मिलता है। उल्लेखनीय है कि भिक्षुणी संघ में किसी प्रकार के भेदभाव से बचने के लिए बुद्ध ने महाप्रजापति गौतमी और यशोधरा जैसी महारानियों तथा प्रकृति जैसी चांडाल कन्या को एक ही पंक्ति में बैठाया था।

थेरीगाथा ग्रंथ नारी स्वतंत्रता को अभिव्यक्त करने वाला प्रथम प्रमुख ग्रंथ माना जाता है। संयुक्त निकाय के अनुसार, गुणवती पुत्री को पुत्र से भी अच्छा समझना चाहिए। अनेक स्त्रियाँ बौद्ध संघ में प्रविष्ट हुईं और उनकी शिक्षा को प्रोत्साहन मिला। जातक साहित्य में भी कुछ बौद्ध कन्याओं का उल्लेख मिलता है जो दार्शनिक वाद-विवाद में भाग लेती थीं। असातमत्त जातक से ज्ञात होता है कि एक सुशिक्षित आचार्य अपनी एक

सौ बीस वर्षीय वृद्ध माता को अपने हाथों से नहलाता, खिलाता और उसकी सेवा करता था। थेरीगाथा में लगभग पचास ऐसी थेरियों (स्थविर स्त्रियों) का उल्लेख है जो कवयित्री थीं। इनमें से बत्तीस आजीवन ब्रह्मचारिणी रहीं और अठारह ने वैवाहिक जीवन के पश्चात् भिक्षुणी व्रत ग्रहण किया। सुमेधा, सुमा और अनोपमा के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। बौद्ध ग्रंथों के अनुसार स्त्रियाँ उपाध्यायिका (धार्मिक गुरु) भी होती थीं। अवदानशतक में पद्मावती नामक एक उपाध्यायिका का उल्लेख मिलता है। पाणिनि ने महिला शिक्षणशालाओं (छन्नीशाला) का भी उल्लेख किया है। पाणिनि के अनुसार, जो स्त्रियाँ अध्यापन कार्य करती थीं, वे आचार्य और उपाध्याया कहलाती थीं। पुराणों से विदित होता है कि नारी शिक्षा के दो रूप थे - आध्यात्मिक और व्यावहारिक। आध्यात्मिक ज्ञान में बृहस्पति-भगिनी भुवना, अपर्णा, एकपर्णा, मेना, धारिणी, संनति तथा शरूपा जैसी ब्रह्मवादिनी कन्याओं के नाम उल्लेखनीय हैं। व्यावहारिक शिक्षा में स्त्रियाँ नृत्य, संगीत, चित्रकला आदि में भी निपुण होती थीं। तथापि, बौद्ध धर्म में स्त्री-प्रव्रज्या के प्रति एक असम्मति का स्वर भी विद्यमान है। चुल्लवग्ग में वर्णित है कि यदि तथागत द्वारा स्त्री-प्रव्रज्या की अनुमति न दी गई होती तो विशुद्ध धर्म चिरस्थायी होता, किन्तु अब यह केवल पाँच सौ वर्षों तक ही स्थिर रहेगा। इससे स्पष्ट है कि महात्मा बुद्ध स्त्री-प्रव्रज्या से पूर्णतः संतुष्ट नहीं थे। इसके अतिरिक्त, बुद्ध ने भिक्षुणियों के लिए आठ गरुधर्म (शर्तें) निर्धारित कीं, जिनमें ये प्रमुख थीं: भिक्षुणियाँ सदा भिक्षुओं का आदर करेंगी; वर्षावास भिक्षु-कुल में नहीं करेंगी; प्रत्येक पखवारे भिक्षु संघ से उपोसथ प्राप्त करेंगी; तथा भिक्षुणियों को दोनों संघों (भिक्षु और भिक्षुणी) में उपसम्पदा की प्रार्थना करनी होगी। इन शर्तों के माध्यम से भिक्षुणियों को भिक्षुओं के अधीनस्थ स्थिति में रखा गया।

जैन धर्म में स्त्री की स्थिति: आत्मगत समानता और व्यवहारिक स्वतंत्रता

जैन धर्म में स्त्री को धार्मिक और सामाजिक कार्यों में पुरुषों के समान ही अधिकार प्राप्त हैं। जैन दर्शन प्रतिपादित करता है कि जहाँ पुरुष जाता है, वहाँ स्त्री भी जा सकती है; जो पुरुष करता है, वह स्त्री भी कर सकती है। स्त्री और पुरुष की उपलब्धियों को समान स्तर पर माना जाना चाहिए, क्योंकि धार्मिक उपलब्धियाँ और आत्म-विकास शरीर से नहीं, अपितु आत्मा से संबंधित हैं। लिंग भेद केवल भौतिक धरातल पर है। इस प्रकार, स्त्री भी इच्छाओं, वासनाओं और कर्मों के बंधनों से मुक्त होकर समान रूप से मुक्ति प्राप्त कर सकती है। जैन धर्म के अनुसार, आध्यात्मिक धरातल पर पुरुष और स्त्री की आत्मा में कोई अंतर नहीं है। अतः पुरुष द्वारा स्त्री को हीन मानना अतार्किक, अधार्मिक और अज्ञानतापूर्ण है।

यह विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि जहाँ अधिकांश धर्मों में वासना से मुक्ति पर बल देते हुए स्त्री को वासना जगाने वाली वस्तु मानकर उससे दूर रहने का उपदेश दिया जाता है, वहीं जैन धर्म का दृष्टिकोण भिन्न है। सूत्रकृतांग निर्युक्ति में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि जिस प्रकार स्त्री पुरुष के चरित्र का नाश कर सकती है, उसी प्रकार पुरुष भी स्त्री के चरित्र का नाश कर सकता है। अतः सांसारिक सुखों से विमुख होने की इच्छा रखने वाली स्त्रियों को भी पुरुषों से स्वयं को बचाना चाहिए। जैन ग्रंथों में स्त्री को 'द्रव्य स्त्री' (शारीरिक गठन) और 'भाव स्त्री' (स्वभाव) के रूप में वर्गीकृत किया गया है। यद्यपि तण्डुलवैचारिक प्रकीर्णक में स्त्रियों के लगभग चौरानबे जन्मजात लक्षणों का वर्णन है, जो कुछ स्थानों पर अपमानजनक प्रतीत होता है, किन्तु भगवती आराधना में स्पष्ट किया गया है कि ये दोष केवल साधारण स्त्रियों के लिए लागू होते हैं, पतिव्रता स्त्रियों में ऐसी कोई कमी नहीं होती। उसी ग्रंथ में पतिव्रता स्त्री की महिमा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह पृथ्वी पर देवी के समान है, देवता भी उसकी पूजा करते हैं। इसी कारण जैन आगम में पत्नी को 'धर्म-सहाय' (धर्म में सहायता करने वाली) माना गया है।

जैन धर्म में स्त्रियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण रही है। हेमचन्द्राचार्य की माता पाहिनी की प्रेरणा से ही वे ज्ञान के सागर के रूप में ख्यात हुए; कवि धनपाल को उनकी बहन सुन्दरी ने अमरकोश लिखने की प्रेरणा

दी। महासती उज्ज्वलकुमारी के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर गांधीजी स्वयं उनसे मिलने गए थे। हरकुंवर सजेठानी ने हथिन्हा मंदिरों का निर्माण कराया तथा तीर्थयात्रियों के विशाल जुलूस का आयोजन किया। साध्वियों एवं श्राविकाओं की इस सशक्त भूमिका के कारण ही जैन धर्म ने मध्यकाल में प्रचलित सती-प्रथा और दासी-प्रथा का कड़ा विरोध किया। साध्वी यक्षकुंवरजी ने पशुबलि प्रथा को समाप्त करने के लिए निरंतर संघर्ष किया। जैन धर्म बहुविवाह, व्यभिचार, मद्यपान, वेश्यागमन एवं जुआ जैसे दुर्गुणों का विरोधी है, जिससे स्त्रियाँ इन बुराइयों से होने वाली यातनाओं से बची रहती हैं। ज्ञात धर्मकथा में राजा द्रुपद द्रौपदी से स्वयं पति चुनने को कहते हैं। उपासक दशांग के अनुसार, महाशतक अपनी पत्नी रेवती को धार्मिक आस्था, खान-पान तथा अन्य बातों के लिए किसी भी प्रकार से बाध्य नहीं करता। आगम काल से ही स्त्रियों को धार्मिक आस्था और जीवन शैली के संबंध में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त है। साध्वियाँ साधुओं की संगति से स्वतंत्र होकर रहती-फिरती थीं तथा प्रतिहार-रक्षक के रूप में साध्वी नियुक्त करके अपनी सुरक्षा का प्रबंध स्वयं करती थीं। ब्राह्मी, सुन्दरी, चन्दनबाला, जयन्ती आदि स्त्रियों ने विवाहित जीवन को अस्वीकार करके आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार किया। जैन धर्म ने विवाह जैसे व्यक्तिगत मुद्दे को स्त्रियों के विवेक पर छोड़ दिया; स्त्री स्वयं निर्णय कर सकती थी कि उसे विवाह करना है या नहीं। भगवान महावीर के समवसरण में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही स्वतंत्रता प्राप्त थी - वे बिना किसी रोक-टोक के प्रवचन सुनती थीं और सार्वजनिक रूप से प्रश्न पूछती थीं, जैसा कि जयन्ती के मामले में हुआ।

निष्कर्ष

बौद्ध एवं जैन धर्म में स्त्री की सामाजिक एवं दार्शनिक स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि दोनों परंपराओं ने अपने समय की रूढ़ियों को चुनौती देते हुए स्त्री को आध्यात्मिक उन्नति का अधिकार प्रदान किया। बौद्ध धर्म में भिक्षुणी संघ की स्थापना स्त्रियों के धार्मिक अधिकारों की दिशा में एक ऐतिहासिक कदम था, जबकि जैन धर्म ने आत्मा की समानता के सिद्धांत पर स्त्री को मोक्ष की अधिकारी माना। दोनों धर्मों के साहित्य में स्त्रियों की बौद्धिक, आध्यात्मिक और नैतिक उपलब्धियों का उल्लेख मिलता है। तथापि, दोनों परंपराओं में स्त्री की स्थिति पूर्णतः असमान नहीं थी, बल्कि इसमें एक अंतर्निहित द्वंद्व विद्यमान था। बौद्ध धर्म में स्त्री-प्रव्रज्या के प्रति आरंभिक अनिच्छा, आठ गरुधर्मों के रूप में लगाई गई शर्तें तथा 'धर्म के चिरस्थायित्व' को लेकर व्यक्त आशंकाएँ यह दर्शाती हैं कि बौद्ध दृष्टिकोण पूर्णतः स्त्री-मुक्ति के पक्ष में नहीं था। जैन धर्म में, विशेषतः दिगंबर परंपरा में स्त्री-मोक्ष को लेकर मतभेद तथा कुछ ग्रंथों में स्त्री-स्वभाव के नकारात्मक चित्रण भी इसी द्वंद्व को प्रकट करते हैं। फिर भी, यह निर्विवाद है कि बौद्ध और जैन धर्म ने स्त्री को केवल गृहस्थ जीवन की परिधि में ही नहीं, बल्कि संन्यास, शिक्षा, तप, धर्म-प्रचार और मोक्ष के क्षेत्रों में भी सक्रिय भूमिका का अवसर प्रदान किया। बौद्ध थेरिगाथा की कवयित्रियाँ और जैन साध्वियाँ इस बात का प्रमाण हैं कि स्त्रियाँ आध्यात्मिक मार्गदर्शक के रूप में भी प्रतिष्ठित हो सकती थीं। इस प्रकार, बौद्ध एवं जैन धर्म में महिलाओं की स्थिति का तुलनात्मक अध्ययन न केवल ऐतिहासिक एवं धार्मिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि समकालीन स्त्री विमर्श और लैंगिक समानता की हमारी समझ को भी गहराई प्रदान करता है। यह अध्ययन यह भी संकेत करता है कि किसी भी धार्मिक परंपरा में स्त्री की स्थिति केवल उसके सैद्धांतिक ग्रंथों से नहीं, बल्कि उसकी व्यावहारिक परंपराओं, संप्रदायगत मतभेदों और सामाजिक मर्यादाओं के सम्मिलित आलोक में ही समझी जा सकती है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. विमलकीर्ति : थेरीगाथा, अनु० एवं सम्पा०, द्वितीय संस्करण, सम्यक् प्रकाशन, 2006
2. विद्यालंकार, सत्यकेतु प्राचीन भारत का धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक जीवन, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, 2007
3. जैन, प्रतिभा एवं संगीता शर्मा भारतीय स्त्री सांस्कृतिक सन्दर्भ, विवेक प्रकाशन मेरठ
4. चतुरसेन, आचार्य बुद्ध और बौद्धधर्म, भारतीय प्रकाशन, लखनऊ, 1964
5. सांस्कृत्यायन, राहुल दीर्घनिकाय हिन्दी अनुवाद, सारनाथ, वाराणसी, 1936
6. सिंह, उर्मिला प्रकाश, प्राचीन भारत में नारी, मध्य प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, भोपाल 1987
7. उपाध्याय, भरत सिंह बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन (भाग-2), कलकत्ता, संवत्
8. सारस्वत, मालती और मदन मोहन, (2009), भारतीय शिक्षा का इतिहास एवं समस्यायें, इलाहाबादः न्यू कैलाश प्रकाशन
9. राधा कृष्णन, सर्वपल्ली (2012), भारतीय दर्शन दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स
10. जैन, महावीर सरन, (2010), भगवान महावीर एवं जैन दर्शन, इलाहाबाद लोक भारती प्रकाशन
11. विद्यालंकार, मनोहर, (1994), वेद प्रदीप नारी तथा वेदाध्य्यन अंक 3
12. जिगना, ए. रावल , प्राचीन भारत में महिला शिक्षा IMIAR 87 Volume: 1/ISSUE 3
13. सर्वपल्ली, आर. के, भारतीय दर्शन 1. दिल्लीः राजपाल एण्ड सन्स
14. पाण्डेय, रामशकल, विश्व के श्रेष्ठ शिक्षा शास्त्री विनोद पुस्तक मन्दिर आगराः पू. - 296

हिन्दू धर्म और नारी

सौरभ कान्त त्रिपाठी*

सारांश

हिन्दू संस्कृति में नारी का स्थान अत्यंत उच्च आदर्शों से परिपूर्ण रहा है। इस काल में नारी को जीवन, सभ्यता, धर्म और ज्ञान की वाहक शक्ति के रूप में स्वीकारा गया। भारतीय संस्कृति में नारी को देवी, शक्ति, सरस्वती, लक्ष्मी तथा अन्नपूर्णा के रूप में पूजा गया, जिससे यह स्पष्ट होता है कि नारी केवल सामाजिक वर्ग का हिस्सा नहीं, बल्कि सृष्टि की आधारशिला है। मनुस्मृति, वेद, उपनिषद, पुराण और इतर ग्रंथों में नारी के प्रति सम्मान और श्रद्धा की भावना दर्शायी गई है। वैदिक समाज में नारी को शिक्षा, सामाजिक प्रतिष्ठा और धार्मिक विधानों में सक्रिय भागीदारी का पूरा अधिकार था। गुरुकुल परंपरा में पुत्रियों का उपनयन संस्कार होता था और वे यज्ञोपवीत धारण कर वेदाध्ययन, ब्रह्मचर्य, यज्ञकर्म एवं विद्या-चिंतन में संलग्न रहती थीं। अपाला, घोषा, लोपामुद्रा, विश्ववारा जैसी अनेक विदुषी स्त्रियाँ वेद-मंत्रों की द्रष्टा रही हैं, जिन्होंने वैदिक ज्ञान को समृद्ध किया। विवाह की दृष्टि से भी उन्हें स्वतंत्र निर्णय का अधिकार था; स्वयंवर प्रथा इसका साक्ष्य है। कन्याओं को परिपक्व आयु में विवाह और ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने पर विशेष बल दिया जाता था। नारी और पुरुष की समानता तथा परस्पर पूरकता को अर्धांगिनी और दंपत्ति जैसे शब्दों में वैदिक साहित्य ने परिभाषित किया है। नारी को वे चार पुरुषार्थोंधर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की ज्ञाता और साधिका माना गया। समग्रतः हिन्दू संस्कृति में नारी न केवल परिवार की केंद्रीय शक्ति थी, बल्कि धार्मिक, सामाजिक, वैचारिक और शैक्षिक समृद्धि की प्रेरक भी थी। उसकी भूमिका सृष्टि के संतुलन, संस्कृति के संरक्षण और समाज के उत्थान की मूल धुरी के रूप में प्रतिष्ठित रही। यही आदर्श वैदिक सभ्यता की प्रगतिशीलता और महानता का द्योतक है।

प्रस्तावना

भारतीय संस्कृति के विकास में नारी की भूमिका आदिकाल से ही महत्वपूर्ण रही है। वैदिक सभ्यता के मूल में स्थित विचारधारा यह स्वीकार करती है कि सृष्टि के संरक्षण, संवर्धन और संस्कार के केंद्र में नारी ही स्थित है। यहाँ नारी केवल भावनाओं का प्रतीक अथवा परिवार की संरक्षिका नहीं, बल्कि धर्म, ज्ञान, संस्कृति और आध्यात्मिक मूल्यों की मूर्त अभिव्यक्ति मानी गई है। इसी कारण भारतीय परम्परा में नारी को अर्धांगिनी की संज्ञा दी गई है,वेदों और उपनिषदों में नारी को सम्मान के उच्चतम शिखर पर प्रतिष्ठित किया गया है। जहाँ उसे देवी, शक्ति, सरस्वती, लक्ष्मी और अन्नपूर्णा के रूप में पूजित किया गया, वहीं समाज जीवन में उसे शिक्षा, स्वाधीनता, निर्णय-क्षमता और याज्ञिक कर्तव्यों में बराबरी का स्थान मिला। वैदिक काल में परिवार और समाज की संरचना स्त्री-पुरुष की समान साझेदारी पर आधारित थी। नारी को पुरुष की पराधीन वस्तु नहीं माना गया, बल्कि उसके श्रम, बुद्धि और त्याग को सामाजिक एवं धार्मिक आयोजन का अनिवार्य अंग स्वीकार किया गया। वह गुरुकुल में उच्च शिक्षा प्राप्त कर वेदों का अध्ययन करती थी, यज्ञों में मंत्रोच्चारण और नेतृत्व करती थी, तथा विवाह जैसे विषयों में भी स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार रखती थी। भारतीय सांस्कृतिक चेतना में नारी के प्रति यह सम्मानमयी दृष्टि केवल सामाजिक व्यवस्था तक सीमित नहीं थी, बल्कि यह दार्शनिक चिंतन का भी आधार बनी।

* सहायक प्राध्यापक, हिन्दू अध्ययन, डॉ. बाबासाहेब अम्बेडकर ओपन यूनिवर्सिटी, अहमदाबाद
saurabh.research2025@gmail.com, Phone:-8542926568

भारतीय संस्कृति में नारी का स्थान सृष्टि, धर्म, ज्ञान, संस्कृति और नैतिक मूल्यों की मूल प्रेरक शक्ति के रूप में रहा है। यहाँ नारी को देवी, शक्ति, सरस्वती, लक्ष्मी, भूमि, अन्नपूर्णा जैसे अनेक पवित्र रूपों में सम्मानित किया गया है। भारतीय परम्परा में ऐसा कोई क्षेत्र नहीं रहा जहाँ नारी अपनी महत्ता और गरिमा के साथ उपस्थित न रही हो। वेद, उपनिषद्, स्मृतियाँ, महाकाव्य, पुराण और समस्त शास्त्रों में नारी के प्रति एक सम्मानमयी दृष्टि दिखाई देती है। यही कारण है कि भारतीय चिंतन नारी को केवल शरीर नहीं, बल्कि आत्मा और संस्कृति का स्वरूप मानता है। प्राचीन ऋषियों ने उसकी शक्ति की स्तुति करते हुए कहा- **या देवी सर्वभूतेषु शक्ति-रूपेण संस्थिता**। अर्थात सम्पूर्ण जगत में जो ऊर्जा और शक्ति है, वह नारी ही है।

मनु ने भी कहा है जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं। जहाँ स्त्रियों का सम्मान नहीं होता है, अपमान होता है, वहाँ सब प्रकार की विपत्ति आती है।

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते, सर्वास्तत्राऽफलाः क्रियाः ।।

रामायण में श्रीराम ने लंका पर विजय प्राप्त करने के पश्चात लक्ष्मण से कहा:

अपि स्वर्णमयी लंका, न मे लक्ष्मण रोचते ।
जननी जन्मभूमिश्च , स्वर्गात् अपि गरीयसी ।।

अर्थात हे लक्ष्मण यह लंका सोने की होते हुए भी मुझे अच्छी नहीं लग रही है क्योंकि जननी(मां) और जन्मभूमि स्वर्ग से भी महान हैं |

मनुस्मृति के अनुसार स्त्री सृष्टि की संयोजिका है जो मायारूप जगत् में सभी शुभाशुभ वृत्ति को उत्पन्न करती है। स्त्री और पुरुष दोनों ही आधी-आधी सृष्टि है।

उत्पादनमपत्यस्य जातस्य परिपालनम्।
प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं सीतिबन्धतम् ।।

वैदिक काल में सामाजिक व्यवस्था स्त्री व पुरुष सम्बन्ध के तथ्य के आधार पर ही की गयी थी। मानव जीवन रूपी गाड़ी के दो चाक हैं। एक स्त्री व दूसरा पुरुष। दोनों चाक बराबर रहने चाहिए। दोनों चाकों का साथ-साथ चलना भी जरूरी है। वैदिक साहित्य में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा है शतपथ ब्राह्मण में कहा है कि जो पत्नी है वह अपनी आत्मा का आधा भाग है जब तक कोई व्यक्ति पत्नी को प्राप्त नहीं करता, तब तक उसे सन्तान की प्राप्ति नहीं होती है और वह अधूरा ही माना जाता है। जब वह पत्नी को प्राप्त करता है तब उसे सन्तान प्राप्त होती है और वह पूर्ण हो जाता है। विधाता की सर्वोत्तम परिकल्पना नारी का सृष्टि के विकास क्रम में प्रभूत योगदान है। वृहदारण्यकोपनिषद् में स्त्री को सृष्टि की रिक्तता को पूर्ण करने वाली कहा गया है- **अयमाकाशः स्त्रिया पूर्यते**। ऋग्वेद में स्त्री को ब्रह्मा की संज्ञा से विभूषित किया गया है **स्त्री हि ब्रह्मा बभूविथ।**

नारी और पुरुष की समानता को अर्धांगिनी शब्द से स्पष्ट किया गया है, जिसका अर्थ है, पुरुष का आधा हिस्सा। "दंपत्ति" शब्द भी इस बात को बताता है कि घर-परिवार में नारी और पुरुष दोनों ही समान अधिकार रखते हैं। वैदिक साहित्य में बताया गया है कि नारी और पुरुष दोनों की उत्पत्ति समान रूप से हुई है, जो उनके बराबर महत्व का प्रमाण है। ऋग्वैदिक काल में बेटी को भी बेटे के समान ही प्यार और सम्मान दिया जाता था। एक मंत्र में माता-पिता अपने पुत्रों के साथ-साथ पुत्रियों के भी दीर्घायु होने की कामना करते हैं। अन्य जगहों पर भी माता-पिता की छाती पर लेटी नन्हीं बच्चियों का वर्णन मिलता है, जिससे पता चलता है कि कन्याएँ परिवार की प्रिय थीं। हालाँकि अथर्ववेद और ऐतरेय ब्राह्मण में कहीं-कहीं कन्या के प्रति कुछ उदासीनता के संकेत जरूर मिलते हैं, लेकिन ऐसे कुछ उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं होता कि उस समय कन्याओं को तुच्छ माना जाता था। इसके विपरीत वृहदारण्यक उपनिषद में तो विदुषी अर्थात पढ़ी-लिखी और ज्ञानी पुत्री की कामना की गई है तथा उसके लिए विशेष पूजा-विधि भी बताई गई है।

वैदिक काल में नारी को पुरुष के समान शिक्षा-दीक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त था। पुत्र के समान पुत्री भी उपनयन संस्कार से संस्कारित होकर शिक्षाग्रहण की अधिकारी मानी जाती थी। गुरुकुल में रहकर वह ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करते हुए यज्ञोपवीत, मौञ्जी, मेखला तथा वल्कल-वस्त्र धारण कर उच्च विद्या अर्जित करती थी। इसका उल्लेख यमस्मृति में मिलता है–

पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धमिष्यते ।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवचनं तथा।।

वैदिक नारियों वैदिक ग्रन्थों का अध्ययन करती थी, एवं यज्ञों में भाग लेकर मंत्रोच्चारण भी करती थी। वेद मंत्रों की द्रष्टा हैं - अपाला, घोषा, सरस्वती, सर्पराज्ञी, सूर्या, सावित्री, अदिति-दाक्षायनी, लोपामुद्रा, विश्ववारा, आत्रेयी आदि। यज्ञ करने वाली स्त्रियों में विश्ववारा का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एक कन्या द्वारा घर में यज्ञ करने का वर्णन वेद में मिलता है। पत्नी ही यज्ञ में सोमगीतों का गान करती थी। यज्ञ के लिए चावल बनाती, पशु को स्नान कराती थी, वेदी का निर्माण करती थी। अग्नि तैयार करती थी। यज्ञ की समाप्ति पर पत्नी ही मंत्रोच्चारण करती थी। जब पत्नी को मंत्र याद नहीं रहते थे तब यह सुन-सुनकर दोहराती थी।

यदि पति विदेश में हो तो पत्नी को अकेले ही यज्ञ सम्पन्न करना पडता था। यह विधान 'सूत्र-काल तक जीवित था। यदि किसी कारणवश पति के रहते हुए यज्ञ में उसका सहयोग प्राप्त न हो तो भी पत्नी को स्वतः यज्ञ सम्पन्न करना होता था। इन्द्राणी ने अनेक यज्ञ सम्पन्न किए थे। ऋग्वैदिक ऋषियों ने निम्न वर्णीय पत्नी को भी यज्ञाधिकार प्रदान किए थे, यजुर्वेद में कन्याओं को सुशिक्षित करने का उपदेश है तथा अथर्ववेद में शिक्षा पूर्ण कर योग्य वर प्राप्ति का उल्लेख मिलता है। वेदों में स्त्री को चतुष्कपर्दा कहा गया है, जो धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष–इन चार पुरुषार्थों की ज्ञाता होने के साथ यज्ञ-विद्या एवं ज्ञान-विज्ञान की पूर्ण ज्ञाता थी। वैदिक शिक्षा के अतिरिक्त कन्याएँ युद्धविद्या, परा-अपरा विद्या, गणित, शिल्प, नृत्य, गीत, संगीत आदि कलाओं में भी पारंगत होती थीं। आज जिन संस्कारों को केवल पुरुषों तक सीमित कर दिया गया है, वे उस काल में स्त्रियों के लिए भी विधेय थे। इसी कारण कन्या का उपनयन संस्कार एवं यज्ञोपवीत धारण अनिवार्य माना गया था। ऋग्वेद व अथर्ववेद संहिता दोनों ही स्त्री के उपनयन एवं वेदाध्ययन के अधिकार की पूर्णत: पुष्टि करते हैं। वैदिक काल में नारियां वेदाध्ययन के लिए स्वतंत्र थीं अतः उन्हें पुरुष के समान याज्ञिक अधिकार प्राप्त थे। अथर्ववेद में एक स्थान पर नारी को यज्ञ में भाग लेने, यज्ञ करने तथा दूसरों को यज्ञ कराने के लिए अधिकृत किया गया है। अनेक स्थलों पर पति-पत्नी द्वारा संयुक्त रूप से सम्पादित अनुष्ठानों के विवरण प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के दशम मण्डल का 114 वाँ सूक्त भी नारी के यज्ञ करने के जन्मसिद्ध अधिकार की पुष्टि करता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण में कहा गया है कि गृहस्थ, पत्नी के बिना अकेले यज्ञ करने का अधिकार नहीं है- **अयज्ञियों वा एषः योऽपत्नीकः।**

विवाह के क्षेत्र में भी नारी सशक्त थी। बाल विवाह की प्रथा नहीं थी। कन्याओं का विवाह परिपक्वावस्था में होता था तथा वे विवाह के सम्बन्ध में स्वयं निर्णय लेने के लिए स्वतंत्र थी। ऋग्वेद में कहा गया है कि उस समय विवाह योग्य किसी भी युवती को अपने मनोनुकूल वर चुनने की स्वतंत्रता थी। वैदिक युग में छात्राओं के दो वर्ग थे, एक सद्योवधू और दूसरा ब्रह्मवादिनी। सद्योवधू वे छात्राएँ थी जो विवाह के पूर्व तक कुछ वेद मंत्रों और याज्ञिक प्रार्थनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेती थी तथा ब्रह्मवादिनी वे थी जो अपनी शिक्षा पूर्ण करने में अपना जीवन लगा देती थी। ऋषि कुशध्वज की वेदवती ऐसी ही ब्रह्मवादिनी स्त्री थी। ऐसी स्त्रियाँ बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न होती थी, जो ज्ञान और बुद्धि में पारंगत ही नहीं बल्कि अनेक मंत्रों की उद्गात्री होती थी। वे दर्शन, तर्क, मीमांसा, साहित्य आदि विभिन्न विषयों की पंडिता होती थी। काशकृत्स्नी नामक स्त्री ने मीमांसा जैसे क्लिष्ट और गूढ़ विषय पर बहुचर्चित पुस्तक का प्रणयन किया था, जो बाद में उसी के नाम पर

विख्यात हुई। इस वर्ग के अध्येता 'काशकृत्सनी ही कहे गये। पाणिनी ने महिला शिक्षण शाला का उल्लेख किया है। सह शिक्षण का भी प्रचलन था। छात्र-छात्राएँ एक साथ शिक्षण प्राप्त करते थे। वाल्मीकि आश्रम में आत्रेयी ने लवकुश के साथ शिक्षा ग्रहण की थी। अथर्ववेद में स्पष्ट उल्लेख है कि कन्या को ब्रह्मचर्य का पालन करने के उपरान्त ही विवाह करना चाहिए- वेद में लिखा है **ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्**। अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत लेकर कन्या शिक्षा ग्रहण करती हुयी विवाह करे। क्षत्रिय समाज में स्वयंवर की प्रथा प्रचलित थी, जिससे यह ज्ञात होता है कि कन्या का विवाह प्रौढ़ावस्था प्राप्त करने के पश्चात् होता था जब वे इस निर्णायक क्षेत्र में निर्णय लेने में सक्षम होती थी। ऋक् संहिता के एक मन्त्र के सूक्ष्मानुशीलन से यह ज्ञात होता है कि विवाह के समय वधू पूर्ण परिपक्व एवं विकसित होती थी। वैदिक काल में अन्तर्जातीय विवाह के संकेत भी प्राप्त होते हैं।

निष्कर्ष

हिन्दू धर्म में नारी का अध्ययन यह सिद्ध करता है कि प्राचीन भारतीय समाज मूलतः प्रगतिशील, समानता-प्रधान और ज्ञान-केन्द्रित था। उस समय नारी को न केवल देवी, शक्ति और अर्धांगिनी के रूप में पूजा गया बल्कि उसे सामाजिक, शैक्षणिक और धार्मिक सभी क्षेत्रों में समान अधिकार दिए गए। नारी वेदाध्ययन करती थी, यज्ञों में भाग लेती थी, मंत्रोच्चारण करती थी, और अपनी बुद्धिमता तथा निर्णय-क्षमता से परिवार एवं समाज का नेतृत्व करती थी। विवाह, शिक्षा और याज्ञिक कर्मों में उसे आत्मसम्मान और स्वतंत्रता प्राप्त थी। इन तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल की नारी पुरुष की पूरक मात्र नहीं थी, बल्कि ज्ञान, संस्कृति और सृजन की मूल स्रोत थी। आज के परिप्रेक्ष्य में जब समाज के अनेक क्षेत्रों में नारी को अभी भी समान अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ता है, वैदिक आदर्श हमें स्मरण कराते हैं कि हमारी मूल सांस्कृतिक धारा नारी गरिमा और सशक्तिकरण की रही है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि वैदिक दृष्टिकोण को अपनाकर नारी के सम्मान, शिक्षा और अधिकारों को पुनः सर्वोच्च स्थान दिया जाए, जिससे एक संतुलित, संवेदनशील और समृद्ध समाज का निर्माण हो सके।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारत का सांस्कृतिक इतिहास, डॉ० राजेन्द्र पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ,
2. भारतीय इतिहास में महिलाएं, खुराना एवं चौहान
3. भारतीय संस्कृति, वासुदेवशरण अग्रवाल
4. वैदिक वाङमय में नारी, सुषमा शुक्ला
5. प्राचीन भारतीय साहित्य में नारी, गजानन शर्मा
6. हिन्दू सभ्यता में नारियों की स्थिति, प्रो. गणेशलाल सुथार

मध्याह्न भोजन कार्यक्रम का छात्रों की उपस्थिति एवं नामांकन पर प्रभाव (इलाहाबाद जिले के मेजा क्षेत्र में स्थित प्राथमिक विद्यालयों पर आधारित अध्ययन)

मनीषा*
हेमंत कुमार निराला**

सारांश

भारत सरकार द्वारा संचालित मध्याह्न भोजन कार्यक्रम (Mid-Day Meal Scheme) का उद्देश्य प्राथमिक स्तर पर बच्चों के पोषण स्तर को सुधारना, विद्यालयों में उपस्थिति बढ़ाना तथा नामांकन में वृद्धि करना है। प्रस्तुत अध्ययन का मुख्य उद्देश्य इलाहाबाद (प्रयागराज) जिले के मेजा क्षेत्र के प्राथमिक विद्यालयों में इस योजना के प्रभाव का विश्लेषण करना है।

इस अध्ययन में 200 विद्यार्थियों तथा 10 प्राथमिक विद्यालयों का चयन किया गया। डेटा संग्रह के लिए प्रश्नावली एवं साक्षात्कार विधि का उपयोग किया गया। परिणामों से यह स्पष्ट हुआ कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम के कारण छात्रों की उपस्थिति तथा नामांकन में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। विशेष रूप से आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के बच्चों के लिए यह योजना अत्यंत लाभकारी सिद्ध हुई है।

अध्ययन से यह भी ज्ञात हुआ कि इस योजना ने न केवल शिक्षा के प्रति आकर्षण बढ़ाया है बल्कि सामाजिक समानता और पोषण स्तर में भी सुधार किया है। हालांकि, भोजन की गुणवत्ता एवं प्रबंधन से संबंधित कुछ समस्याएं भी सामने आईं।

शब्द कुंजी : मध्याह्न भोजन कार्यक्रम, उपस्थिति, नामांकन, प्राथमिक शिक्षा, पोषण, ग्रामीण क्षेत्र, मेजा

प्रस्तावना

शिक्षा किसी भी राष्ट्र के समग्र विकास की आधारशिला मानी जाती है। यह न केवल व्यक्ति के बौद्धिक विकास में सहायक होती है, बल्कि सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति का मार्ग भी प्रशस्त करती है। विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा बच्चों के व्यक्तित्व निर्माण की पहली सीढ़ी होती है, जहाँ वे न केवल ज्ञान अर्जित करते हैं, बल्कि जीवन मूल्यों, अनुशासन तथा सामाजिक व्यवहार को भी सीखते हैं। अतः यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को प्राथमिक शिक्षा सुलभ एवं आकर्षक रूप में उपलब्ध कराई जाए।

भारत जैसे विकासशील देश में, जहाँ जनसंख्या का एक बड़ा भाग ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है, वहाँ शिक्षा के प्रसार में अनेक बाधाएँ विद्यमान हैं। गरीबी, अशिक्षा, सामाजिक असमानता, बाल श्रम, तथा संसाधनों की कमी जैसी समस्याएँ बच्चों के विद्यालयी जीवन को प्रभावित करती हैं। विशेष रूप से ग्रामीण एवं आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के परिवारों में बच्चों की शिक्षा को प्राथमिकता नहीं दी जाती, क्योंकि वे परिवार की आय में योगदान देने के लिए कार्य करने को विवश होते हैं। परिणामस्वरूप, विद्यालयों में नामांकन कम होता है तथा ड्रॉपआउट दर अधिक रहती है।

इन चुनौतियों से निपटने के लिए भारत सरकार ने समय–समय पर विभिन्न योजनाएँ लागू की हैं, जिनका उद्देश्य शिक्षा को सार्वभौमिक बनाना तथा बच्चों को विद्यालय की ओर आकर्षित करना है। इन्हीं प्रयासों के अंतर्गत वर्ष 1995 में मध्याह्न भोजन कार्यक्रम (Mid-Day Meal Scheme) की शुरुआत की गई, जो आज विश्व के सबसे बड़े स्कूली पोषण कार्यक्रमों में से एक है। इस योजना का मुख्य उद्देश्य प्राथमिक विद्यालयों में अध्ययनरत बच्चों को निःशुल्क एवं पौष्टिक भोजन उपलब्ध कराना है, ताकि उनकी पोषण संबंधी आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके और वे नियमित रूप से विद्यालय में उपस्थित रहें।

मध्याह्न भोजन कार्यक्रम का महत्व केवल पोषण तक सीमित नहीं है, बल्कि यह शिक्षा के क्षेत्र में एक महत्वपूर्ण प्रोत्साहन के रूप में कार्य करता है। यह योजना बच्चों को विद्यालय आने के लिए आकर्षित करती है तथा उनके अभिभावकों को भी बच्चों को विद्यालय भेजने के लिए प्रेरित करती है। विशेष रूप से उन

* सहायक प्रोफेसर, गृह विज्ञान, केशव प्रसाद मिश्र राजकीय महिला महाविद्यालय, औराई, भदोही
** सहायक प्रोफेसर, रसायन विज्ञान, राजकीय महिला डिग्री कॉलेज, सैयदराजा, चंदौली

परिवारों के लिए, जो आर्थिक रूप से कमजोर हैं, यह योजना बच्चों के लिए भोजन की व्यवस्था सुनिश्चित करती है, जिससे उनकी शिक्षा में निरंतरता बनी रहती है।

इसके अतिरिक्त, यह योजना सामाजिक समानता को भी बढ़ावा देती है। विद्यालयों में विभिन्न जाति, वर्ग एवं धर्म के बच्चे एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, जिससे सामाजिक समरसता एवं भाईचारे की भावना विकसित होती है। यह पहल भारतीय समाज में व्याप्त भेदभाव को कम करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

मध्याह्न भोजन कार्यक्रम का एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू यह है कि यह बच्चों के स्वास्थ्य एवं पोषण स्तर में सुधार करता है। कुपोषण भारत में एक गंभीर समस्या रही है, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों में। अपर्याप्त पोषण के कारण बच्चों की शारीरिक एवं मानसिक वृद्धि प्रभावित होती है, जिससे उनकी सीखने की क्षमता भी कम हो जाती है। इस योजना के माध्यम से बच्चों को संतुलित एवं पौष्टिक आहार प्रदान किया जाता है, जिससे उनके स्वास्थ्य में सुधार होता है और वे अधिक एकाग्रता के साथ अध्ययन कर पाते हैं।

इलाहाबाद (प्रयागराज) जिले का मेजा क्षेत्र मुख्यतः ग्रामीण एवं पिछड़ा क्षेत्र है, जहाँ अधिकांश जनसंख्या कृषि एवं दिहाड़ी मजदूरी पर निर्भर है। यहाँ के परिवारों की आर्थिक स्थिति सामान्यतः कमजोर है, जिसके कारण बच्चों की शिक्षा प्रभावित होती है। कई बार बच्चों को विद्यालय छोड़कर कार्य में लगना पड़ता है, जिससे उनकी शिक्षा अधूरी रह जाती है। इस संदर्भ में मध्याह्न भोजन कार्यक्रम इस क्षेत्र में शिक्षा को प्रोत्साहित करने का एक प्रभावी माध्यम बनकर उभरा है।

हालांकि, इस योजना के सकारात्मक प्रभावों के साथ–साथ इसके क्रियान्वयन में कुछ समस्याएँ भी देखने को मिलती हैं। भोजन की गुणवत्ता, स्वच्छता, समय पर वितरण, तथा संसाधनों की कमी जैसी चुनौतियाँ योजना की प्रभावशीलता को प्रभावित कर सकती हैं। कई बार भोजन की गुणवत्ता संतोषजनक नहीं होती या वितरण में अनियमितता पाई जाती है, जिससे छात्रों एवं अभिभावकों में असंतोष उत्पन्न होता है। अतः यह आवश्यक है कि इन समस्याओं की पहचान कर उनका समाधान किया जाए, ताकि योजना का लाभ अधिकतम स्तर तक पहुँच सके।

वर्तमान अध्ययन का उद्देश्य मेजा क्षेत्र के प्राथमिक विद्यालयों में मध्याह्न भोजन कार्यक्रम के प्रभाव का विश्लेषण करना है, विशेष रूप से छात्रों की उपस्थिति एवं नामांकन के संदर्भ में। यह अध्ययन इस बात को समझने का प्रयास करता है कि यह योजना किस प्रकार शिक्षा के प्रति आकर्षण बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुई है तथा किन–किन क्षेत्रों में सुधार की आवश्यकता है।

अंततः यह कहा जा सकता है कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम केवल एक पोषण योजना नहीं है, बल्कि यह शिक्षा, स्वास्थ्य एवं सामाजिक समानता को जोड़ने वाला एक समग्र विकास कार्यक्रम है। यदि इसका प्रभावी एवं पारदर्शी ढंग से क्रियान्वयन किया जाए, तो यह प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक क्रांतिकारी परिवर्तन ला सकता है तथा देश के भविष्य को सुदृढ़ बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

उद्देश्य

1. मध्याह्न भोजन कार्यक्रम का छात्रों की उपस्थिति पर प्रभाव का अध्ययन करना।
2. नामांकन में वृद्धि पर इस योजना के प्रभाव का विश्लेषण करना।
3. छात्रों के पोषण स्तर एवं स्वास्थ्य पर इसके प्रभाव का अध्ययन करना।
4. योजना के कार्यान्वयन में आने वाली समस्याओं की पहचान करना।

साहित्य की समीक्षा

कई शोधों में मध्याह्न भोजन कार्यक्रम के सकारात्मक प्रभाव को दर्शाया गया है।

- ड्रेज एवं किंगडन (2001) के अध्ययन में पाया गया कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम से विद्यालयों में नामांकन एवं उपस्थिति में वृद्धि हुई है।
- यूनिसेफ (2012) की रिपोर्ट के अनुसार, इस योजना ने बच्चों के पोषण स्तर में सुधार किया है तथा ड्रॉपआउट दर में कमी आई है।
- अग्रवाल (2015) के अध्ययन में यह निष्कर्ष निकाला गया कि ग्रामीण क्षेत्रों में यह योजना बच्चों को विद्यालय में बनाए रखने में सहायक है।
- कुमार एवं सिंह (2018) ने पाया कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम ने सामाजिक समानता को बढ़ावा दिया है क्योंकि विभिन्न वर्गों के बच्चे एक साथ भोजन करते हैं।

- कार्तिक मूरलीधरन एट. ऑल. (2019) के अध्ययन में पाया गया कि mid-day meal scheme का छात्रों के learning outcomes और school participation पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा।
- NITI Aayog (2021) की रिपोर्ट के अनुसार, मध्याह्न भोजन कार्यक्रम (अब PM POSHAN) ने कोविड–19 के बाद भी छात्रों के पंजीकरण एवं उपस्थिति को स्थिर बनाए रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।
- Ministry of Education India (2022) के वार्षिक प्रतिवेदन में बताया गया कि योजना के कारण प्राथमिक स्तर पर Gross Enrollment Ratio (GER) में वृद्धि हुई और dropout rate में कमी आई।
- UNICEF (2022) के अध्ययन में पाया गया कि स्कूल feeding programmes महामारी के बाद बच्चों को पुनः स्कूल लाने में अत्यंत प्रभावी रहे।
- World Food Programme (2023) की रिपोर्ट के अनुसार, भारत सहित कई देशों में mid-day meal schemes ने बच्चों की उपस्थिति और learning outcomes को बेहतर किया।
- NCERT (2021) की evaluation report में यह निष्कर्ष निकला कि यह योजना सामाजिक समावेशन और छात्र उपस्थिति बढ़ाने में प्रभावी है।
- ASER Centre (2022) की रिपोर्ट के अनुसार, जिन स्कूलों में मध्याह्न भोजन नियमित था, वहाँ छात्रों की उपस्थिति अपेक्षाकृत अधिक पाई गई।
- World Bank (2020) की रिपोर्ट के अनुसार, school meal programs ने शिक्षा में access और equity दोनों को मजबूत किया।
- Government of India (2023) में PM POSHAN योजना के तहत किए गए मूल्यांकन में पाया गया कि इससे enrollment और retention में लगातार सुधार हो रहा है।

हालांकि कुछ अध्ययनों में यह भी पाया गया कि भोजन की गुणवत्ता, स्वच्छता एवं प्रबंधन में कई समस्याएं हैं, जो योजना की प्रभावशीलता को प्रभावित करती हैं।

कार्य प्रक्रिया

अनुसंधान विधि

इस अध्ययन में वर्णनात्मक एवं सर्वेक्षण विधि का उपयोग किया गया है।

नमूना

- कुल 10 प्राथमिक विद्यालय (मेजा क्षेत्र)
- 200 छात्र–छात्राएं
- 10 शिक्षक

डेटा संग्रहण विधि

- प्रश्नावली
- साक्षात्कार
- अवलोकन

सांख्यिकीय तकनीकें

- प्रतिशत (%)
- औसत (Mean)

सारणी

संकेतक	योजना से पहले (%)	योजना के बाद (%)
उपस्थिति दर	55	82
नामांकन दर	60	88
ड्रॉपआउट दर	30	12
पोषण स्तर (संतोषजनक)	40	75

परिणाम

प्रस्तुत अध्ययन के अंतर्गत मेजा क्षेत्र के 10 प्राथमिक विद्यालयों से प्राप्त आंकड़ों का विश्लेषण करने पर निम्नलिखित महत्वपूर्ण निष्कर्ष सामने आएः

सबसे पहले, छात्रों की उपस्थिति (Attendance) के संदर्भ में यह पाया गया कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम के लागू होने के बाद विद्यालयों में उपस्थिति दर में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है। जहाँ पूर्व में औसत उपस्थिति लगभग 50-55% के बीच थी, वहीं वर्तमान में यह बढ़कर 80–85% तक पहुँच गई है। विशेष रूप से आर्थिक रूप से कमजोर वर्ग के छात्रों में नियमित उपस्थिति में अधिक सुधार देखा गया है। यह संकेत करता है कि भोजन की उपलब्धता बच्चों को विद्यालय आने के लिए प्रेरित करती है।

दूसरे, नामांकन (Enrollment) के संदर्भ में भी सकारात्मक परिवर्तन देखने को मिला। अभिभावकों के बीच इस योजना के प्रति जागरूकता बढ़ने के कारण अधिक संख्या में बच्चों का विद्यालयों में प्रवेश कराया गया। विशेषकर प्रारंभिक कक्षाओं (कक्षा 1–3) में नामांकन में वृद्धि अधिक स्पष्ट रूप से देखी गई। इससे यह सिद्ध होता है कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम एक आकर्षक प्रोत्साहन के रूप में कार्य करता है।

तीसरे, ड्रॉपआउट दर (Dropout Rate) में उल्लेखनीय कमी पाई गई। पूर्व में जहाँ आर्थिक कारणों से बच्चे विद्यालय छोड़ देते थे, वहीं अब भोजन की सुविधा के कारण वे विद्यालय में बने रहते हैं। अध्ययन के दौरान यह पाया गया कि ड्रॉपआउट दर लगभग 30% से घटकर 10–12% तक आ गई है।

चौथे, पोषण स्तर एवं स्वास्थ्य के संदर्भ में सुधार देखा गया। शिक्षकों एवं अभिभावकों के अनुसार, बच्चों की शारीरिक सक्रियता, एकाग्रता तथा कक्षा में सहभागिता में वृद्धि हुई है। नियमित भोजन मिलने से बच्चों की ऊर्जा स्तर में सुधार हुआ है, जिससे वे पढ़ाई में अधिक ध्यान दे पाते हैं।

पाँचवें, सामाजिक व्यवहार एवं समरसता में भी सकारात्मक परिवर्तन देखा गया। विभिन्न जाति एवं वर्ग के बच्चे एक साथ बैठकर भोजन करते हैं, जिससे सामाजिक दूरी कम होती है और समानता की भावना विकसित होती है।

हालांकि, कुछ नकारात्मक पहलू भी सामने आए जैसेः

- कुछ विद्यालयों में भोजन की गुणवत्ता संतोषजनक नहीं पाई गई।
- भोजन वितरण में अनियमितता देखी गई।
- स्वच्छता के मानकों का पूर्णतः पालन नहीं किया गया।

इन समस्याओं के बावजूद, समग्र रूप से कार्यक्रम का प्रभाव सकारात्मक पाया गया।

विवेचना

अध्ययन के परिणाम स्पष्ट रूप से यह दर्शाते हैं कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में एक प्रभावी हस्तक्षेप है, जिसने छात्रों की उपस्थिति एवं नामांकन दोनों पर सकारात्मक प्रभाव डाला है। यह निष्कर्ष पूर्ववर्ती अध्ययनों से भी मेल खाता है, जिनमें यह पाया गया कि इस योजना ने विद्यालयों में बच्चों की संख्या बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

उपस्थिति में वृद्धि का प्रमुख कारण यह है कि यह योजना बच्चों की मूलभूत आवश्यकताकृभोजनकृ को संबोधित करती है। ग्रामीण एवं आर्थिक रूप से कमजोर परिवारों के लिए यह योजना एक प्रकार की आर्थिक सहायता के रूप में कार्य करती है। अभिभावक इस बात से संतुष्ट होते हैं कि उनके बच्चों को विद्यालय में कम से कम एक समय का पौष्टिक भोजन मिल रहा है, जिससे वे बच्चों को नियमित रूप से विद्यालय भेजने के लिए प्रेरित होते हैं।

नामांकन में वृद्धि यह दर्शाती है कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम शिक्षा को अधिक सुलभ एवं आकर्षक बनाता है। यह योजना विशेष रूप से उन परिवारों को प्रभावित करती है जो आर्थिक रूप से कमजोर हैं और बच्चों की शिक्षा पर खर्च करने में असमर्थ हैं। इस प्रकार, यह योजना शिक्षा के सार्वभौमिकरण (Universalization of Education) के लक्ष्य को प्राप्त करने में सहायक सिद्ध होती है।

ड्रॉपआउट दर में कमी इस बात का प्रमाण है कि यह योजना बच्चों को विद्यालय से जोड़कर रखने में सफल रही है। जब बच्चों को विद्यालय में भोजन मिलता है, तो वे पढ़ाई छोड़ने के बजाय विद्यालय में बने रहते हैं। यह विशेष रूप से बाल श्रम की समस्या को कम करने में भी सहायक है।

पोषण स्तर में सुधार का प्रभाव बच्चों के शैक्षणिक प्रदर्शन पर भी पड़ता है। पर्याप्त पोषण मिलने से बच्चों की एकाग्रता, स्मरण शक्ति तथा सीखने की क्षमता में वृद्धि होती है। इस प्रकार, यह योजना शिक्षा की गुणवत्ता को भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करती है।

सामाजिक दृष्टिकोण से, यह योजना समानता एवं समरसता को बढ़ावा देती है। विभिन्न सामाजिक पृष्ठभूमि के बच्चे एक साथ भोजन करते हैं, जिससे सामाजिक भेदभाव कम होता है और सामूहिकता की भावना विकसित होती है।

हालांकि, अध्ययन में यह भी पाया गया कि योजना के प्रभावी क्रियान्वयन में कुछ बाधाएँ हैं। भोजन की गुणवत्ता एवं स्वच्छता से संबंधित समस्याएँ इस योजना की प्रभावशीलता को कम कर सकती हैं। यदि बच्चों को गुणवत्तापूर्ण एवं स्वच्छ भोजन नहीं मिलेगा, तो यह योजना अपने उद्देश्य को पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर पाएगी।

इसके अतिरिक्त, प्रबंधन एवं निगरानी की कमी भी एक महत्वपूर्ण समस्या है। कई बार संसाधनों की कमी या प्रशासनिक लापरवाही के कारण भोजन वितरण में अनियमितता पाई जाती है। अतः यह आवश्यक है कि योजना के कार्यान्वयन में पारदर्शिता एवं जवाबदेही सुनिश्चित की जाए।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्ययन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम छात्रों की उपस्थिति एवं नामांकन बढ़ाने में अत्यंत प्रभावी सिद्ध हुआ है, विशेषकर ग्रामीण एवं आर्थिक रूप से पिछड़े क्षेत्रों जैसे मेजा में। इस योजना ने न केवल बच्चों को विद्यालय की ओर आकर्षित किया है, बल्कि उन्हें विद्यालय में बनाए रखने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

यह कार्यक्रम शिक्षा, पोषण एवं सामाजिक समानता के बीच एक सशक्त कड़ी के रूप में कार्य करता है। इसके माध्यम से बच्चों के पोषण स्तर में सुधार हुआ है, जिससे उनके शारीरिक एवं मानसिक विकास पर सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। साथ ही, यह योजना सामाजिक समरसता को बढ़ावा देती है, जिससे समाज में समानता की भावना विकसित होती है।

हालांकि, योजना के सफल क्रियान्वयन के लिए कुछ सुधार आवश्यक हैं, जैसेः

- भोजन की गुणवत्ता एवं स्वच्छता में सुधार
- नियमित निगरानी एवं मूल्यांकन
- संसाधनों का उचित प्रबंधन
- स्थानीय समुदाय की भागीदारी बढ़ाना

यदि इन सुधारात्मक उपायों को अपनाया जाए, तो मध्याह्न भोजन कार्यक्रम और अधिक प्रभावी बन सकता है तथा प्राथमिक शिक्षा के क्षेत्र में व्यापक परिवर्तन ला सकता है।

अंततः, यह कहा जा सकता है कि मध्याह्न भोजन कार्यक्रम केवल एक कल्याणकारी योजना नहीं है, बल्कि यह एक सामाजिक परिवर्तन का साधन है, जो शिक्षा के माध्यम से समाज के कमजोर वर्गों को सशक्त बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

संदर्भ सूची

Agarwal, P. (2015). Impact of mid-day meal scheme on primary education. *Indian Journal of Education*, 10(2), 45–52.

ASER Centre. (2022). *Annual Status of Education Report (Rural)*.

Dreze, J., & Kingdon, G. (2001). School participation in rural India. *Review of Development Economics*, 5(1), 1–24.

Government of India. (2020). *Mid-Day Meal Scheme Guidelines*. Ministry of Education.

Government of India. (2023). *PM POSHAN Scheme Guidelines and Report*.

International Journal of Educational Development. (2021). *Impact of school feeding programmes on attendance in developing countries*.

Kumar, R., & Singh, S. (2018). Mid-day meal scheme and social equity. *International Journal of Social Science*, 6(3), 112–120.

Ministry of Education, Government of India. (2022). *PM POSHAN (Mid-Day Meal Scheme) Annual Report*.
Muralidharan, K., Singh, A., & Ganimian, A. (2019). *Disrupting education? Experimental evidence on technology-aided instruction in India*. American Economic Review.
NCERT. (2021). *National evaluation of mid-day meal scheme*. New Delhi.
NITI Aayog. (2021). *Evaluation report on school feeding programmes in India*. Government of India.
UNICEF. (2012). *Evaluation of Mid-Day Meal Scheme in India*. New Delhi: UNICEF.
UNICEF. (2022). *School feeding and COVID-19 recovery report*. United Nations.
World Bank. (2020). *The impact of school feeding programmes on education outcomes*.
World Food Programme. (2023). *State of School Feeding Worldwide 2023*.

भारत में प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के प्रोत्साहन में दैनिक समाचार पत्रों की भूमिका

डॉ. कमल कुमार पटेल*

भारत की 65% युवा आबादी को जनसंख्यकीय लाभांश प्राप्त करने व उन्हें रोजगार से जोड़ने के लिए वर्ष 2015 में प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना का महत्वाकांक्षी लक्ष्य रखा था। जिसके लिए 40 करोड़ों युवाओं को प्रशिक्षित करने की योजना शुरू की गई थीं।

भारत की आबादी का एक तिहाई हिस्सा युवाओं का है इन युवाओं की बढ़ती हुई जनसंख्या का लाभ हासिल करना सरकार का नैतिक दायित्व होता है। युवाओं की ऊर्जा का इस्तेमाल करके ही भारत दुनिया को अपनी ताकत का एहसास करा सकता है।यकीनन भारत में बढ़ती हुई जनसंख्या एक भयंकर आर्थिक संकट पैदा कर रहा है। 130 करोड़ की आबादी वाला देश अनेक देश नहीं है जो जनसंख्या विस्फोट की चुनौतियों से लड़ रहा है। हमारा पड़ोसी मुल्क चीन जनसंख्या में हम से आगे है लेकिन उसने जनसंख्या लाभांश पर ध्यान केंद्रीत किया और देश के प्रत्येक नागरिक को ह्नरमंद बनाकर दुनिया के बाजारों में कब्जा कर रहा है, दरअसल बढ़ती हुई जनसंख्या के हाथों में काम सौंप कर उनसे देशहित में लाभ प्राप्त करना जनसंख्यिकी लाभांश का उद्देश्य है।

जनसंख्यिकीय लाभांश अर्थव्यवस्था मे मानव संसाधन के सकारात्मक और सतत विकास को दर्शाता है। यह जनसंख्या ढ़ाँचे में बढ़ती युवा एव कार्यशील जनसंख्या (15 वर्ष से 64 वर्ग) तथा घटते आश्रितता अनुपात के परिणामस्वरूप उत्पादन में बड़ी मात्रा के सृजन को प्रदर्शित करता है। इस स्थिति में जनसंख्या पिरैमिड उल्टा बनेगा अर्थात इसमें कम जनसंख्या आधार से ऊपर को बड़ी जनसंख्या की ओर बढ़ते हैं मानव संसाधन के द्वारा प्राप्त लाभ को ही जनसांख्यकीय लाभ कहते है। इससे यह स्पष्ट होता है कि क्रियाशील जनसंख्या जो उत्पादन की मात्रा में भागीदार होता है उससे देश की अर्थव्यवस्था मजबूत होती है। यह क्रियाशीलता उनके द्वारा काम करके कमाए गए धन पर निर्भर करती है। लेकिन देश में जनसंख्या को बड़ी चुनौती मानकर सरकार उन्हे शिक्षा रोजगार से जोड़ने के लिए बहाना बनाती हैं।

भारत में रोजगार के संकट के आँकड़े–

भारत में बेरोजगारी के आंकड़े पर नजर डाला जाए तो यह ड्रैगन की तरह मुंह फैलाए खड़ी है और युवाओं की ऊर्जा को निकल जाने की फिराक में है। पीएलएफएस सर्वे जुलाई 2017–जून 2018 आंकड़ा बताता है कि 6.1 प्रतिशत बेरोजगारी पिछले 45 वर्ष के अपने चरम स्थान पर है। इसके लिए भारत में हुई नोटबंदी एक बड़ा कारण बना है। जिससे छोटे–मोटे उद्योग धंधे चौपट हो गए। सीएमआईइ के आंकड़े बताते है कि 2018–19 में 15 से 29 वर्ष की आयु वर्ग के लोगों के बीच बेरोजगारी 17.8% थी। जिसने भारत सरकार के सामने रोजगार पैदा करने पर कई सवालिया निशान खड़ा किया है। इस दौरान भारत में कार्य करने वाली मैन्युफैक्चरिंग कंपनियां ऑटोमोबाइल्स जैसे निर्माण क्षेत्र में बेहद रोजगार की कमी ही नहीं, बल्कि उनकी अर्थव्यवस्था चौपट हुई है। इन कम्पनियों ने अपने यहा काम कर रहे कर्मचारियों की छअनी शुरू कर दी। बेरोजगारी का आँकड़ा जुटाने वाली कंपनी सीएमआईइ के अनुसार उत्तर प्रदेश में बेरोजगारी दर 2018 में 5.91 प्रतिशत से बढ़कर 2019 में 9.5 प्रतिशत हो गई है। यह एक ऐसा राज्य जहां देश की 16 प्रतिशत आबादी रहती हैं।

कौशल विकास के प्रोत्साहन में नितिगत प्रयास :

भारत गांवो मे बसने वालो का देश है जिसमें विभन्न प्रकार के उद्योग, व्यवसाय संचालित होते रहे है। गांवों मे कारीगरों को देखा जा सकता है। अंग्रेजी शासनकाल में भी भारत में यहाँ की उद्यमिता, संसाधन व बेहतर बाजार के दौरान उद्यमिता और कौशल विकास को बढ़ावा देने की दिशा में समय समय

* असि0 प्रो0– समाजशास्त्र विभाग, श्री हरिदास पी0 जी0 कॉलेज लहंगपुर, जौनपुर

पर आवश्यक उपाय किए गए है। वर्ष 1991–92 के दौरान आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण व भूमंडलीकरण के दौर में कौशल विकास की दिशा मे सरकारों, निजी क्षेत्र और लोगों, सभी की अपनी आकांक्षाओं को बृहद रूप लेने के प्रति आकर्षित किया हैं।

इसके बाद वर्ष 2011 और 2019 का दशक भारत के शहरी और ग्रामीण क्षेत्रों में उद्यमिता और कौशल विकास को लेकर काफी महत्वपूर्ण रहा। चूंकि इसी दौरान सूचना सचार प्रौधौगिकी से इलेक्ट्रॉनिक व्यापार के माध्यम से उद्यमिता और कौशल विकास को स्वतः फलने फूलने का अवसर मिला। इसके लिए भारत की सरकारों ने उद्यमिता और कौशल विकास को प्रोत्साहित करने तथा उद्योगों, व्यवसायों , व व्यापारों को अनुकूल वातावरण प्रदान किया। देश में कौशल विकास और उद्यमिता को प्रोत्साहन देने हेतु केंद्र सरकार के विभिन्न मंत्रालयों के कार्यक्रम के साथ ही साथ विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा अनेक पहल होती रही हैं।

5 फरवरी वर्ष 2019 को यूपी के दोनो सदनों के अभिभाषण में तत्कालीन राज्यपाल श्री रामनाईक ने बताया कि उत्तर प्रदेश की सरकार ने उत्तर प्रदेश के युवाओं के लिए कौशल विकास राज्य का सर्वांगीण विकास कुशल युवाओं के माध्यम से ही सम्भव है। मेरी सरकार द्वारा तैयार की गई कौशल विकास नीति को सफलतापूर्वक क्रियान्वयन कराते हुए उत्तर प्रदेश कौशल विकास मिशन को संचलित किया गया है। इसके अंतर्गत 4.83 लाख युवााओं को प्रशिक्षित करते हुए 2,72,768 को सेवायेजित कराया गया है।

भारत में उद्यमिता व कौशल विकास को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न कार्यक्रम सचांलित किया गया है। जो निम्न प्रकार से हैं–

1. स्आर्टअप इंडिया
2. स्टैंडअप इंडिया
3. प्रधानमंत्री मुद्रा योजना
4. अटल इनोवेशन मिशन–इनक्यूबेशन सेंटर (AIC)
5. प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना
6. संकल्प
7. दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल विकास योजना

स्टार्टअप इंडिया की शुरूआत 16 जनवरी 2016 को गई यह पहल मजबूत स्टार्टअप इको सिस्टम व संस्कृति को बढ़ावा देने, उद्यमियों की सहायता प्रदान करने के साथ ही साथ देश रोजगार की मांग करने वालों के लिए इस उददेश्य से शुरू किया गया जिससे वें स्वयं रोजगार शुरू करके नौकरी माँगने की बजाय नौकरी देनें वालें उद्यमी बन सकें। इस योजना में स्टार्टअप हेतु आसान अनुपालन स्टार्टअप बन्द करने व अन्य कानूनी सहायता, अनुदान व प्रोत्साहन आदि शामिल किया गया है।

जबकि स्टैंडअप इंडिया की योजना में हाशिये के समाज अनुसूचित जाति, जनजाति महिलाओं के नए/ग्रीनफील्ड उद्यम विकसित करने की दिशा में प्रयास किया गया है, जो विनिर्माण, सेवाओ या व्यापारिक क्षेत्र में हो सकता है।

8 अप्रैल 2015 को शुरू हुए प्रधानमंत्री मुद्रा योजना के अंतर्गत गैर कॉरपोरेट, गैर कृषि, लघु/सूक्ष्म उद्यमों को शिशु, किशोर और तरूण के नाम से क्रमशः 50 हजार, 5 लाख तथा 10 लाख तक का ऋण प्रदान कर नए उद्यम विकसित करने की दिशा में प्रयास किया गया है। यह ऋण वाणिज्यिक बैंक, क्षेत्रीय ग्रामीण बैंक, लघु वित्त बैंक आदि निर्धारित बैंकों द्वारा दिये जातें हैं। इसके अलावा अटल इनोवेशन मिशन के अंतर्गत तकनीकी व नवाचार आधारित नवीन उद्यमों को विकसित करने में सहायता प्रदान करता है। जिसके अंतर्गत व्यवसायिक नियोजन, बाजार में प्रवेश व वित्तीय मामलों से सम्बंधित सलाह इत्यादि शामिल किए गए है।

युवाओं में रोजगार की कमियों की देखते हुए प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र मोदी ने दिल्ली के विज्ञान भवन में 15 जुलाई 2015 को प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना का शुभारंभ किया। जिसका उद्देश्य युवाओ को उद्योगों की आवश्यकताओं के अनुरूप प्रशिक्षण देकर उन्हे बेहतर रोजगार योग्य बनाने में पहला कदम था। इसके बाद योजना–2 तहत वृहद रूप से दूसरी बार 2016–2020 के मध्य एक करोड़ युवाओं को निःशुल्क 2 से 6 माह तक प्रशिक्षण प्रदान कर कुशल बनाने की दिशा में प्रयास किया गया है। इसके साथ ही विश्व बैंक की सहायता से चलाये जा रहें संकल्प कार्यक्रम का उद्देश्य कौशल विकास एवं उद्यमिता को प्रोत्साहित

करने हेतु राष्ट्रीय एवं राज्य स्तरीय संस्थाओं को मजबूत बनाने, समाज के वंचित वर्ग को कौशल, शिक्षा व प्रशिक्षण के साथ–साथ विनिर्माण क्षेत्र में आवश्यक कुशल मानव संसाधनों को विकसित कर 'मेक इन इंडिया' पहल में सहायता प्रदान करना है।

गांवों में कौशल विकास को पहुँचाने के लिए केंद्र सरकार ने दीनदयाल उपाध्याय ग्रामीण कौशल योजना संचालित किया हैं। जिसके अंतर्गत 15 से 35 वर्ष के ग्रामीण युवाओं को सामाजिक और आर्थिक कार्यक्रम मेक इन इंडिया, डिजिटल इंडिया, स्मार्ट सिटीज, और स्टार्टअप इंडिया, स्टैंडअप इंडिया जैसे अभियानों को जोड़ा गया है। ग्रामीण युवाओं को रोजगारपरक प्रशिक्षण देकर श्रमशक्ति बाजार के अनुरूप तैयार करने की प्लेसमेंट से जुड़ी कौशल विकास की यह सशक्तिकरण योजना हैं।

लोकसभा में दिनांक 22 जुलाई 2019 को अतारांकित प्रश्न क्रमांक 4717 के जवाब में कौशल विकास और उद्यमिता मंत्रालय के राज्यमंत्री श्री आरके सिंह ने बताया कि प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना –2016–20 के अंतर्गत दिनांक 12.06.2019 तक कुल 57.75 लाख उम्मीदवारों ने नामांकन करवाया जिसमें 52.12 लाख को प्रशिक्षित किया गया है।

प्रधानमंत्री कौशल विकास के जरिए रोजगार की तलाश–

प्रधानमंत्री कौशल विकास योजना के जरिये बड़ी संख्या में युवाओं को रोजगार हेतु प्रशिक्षण कार्यक्रम संचालित है। वर्ष 2017 में प्रधानमंत्री कौशल विकास की योजना को विस्तार देते हुए 60 जनपदों में संचालित हो रहें पीएमकेवीवाई को 600 जनपदों में शुरू करते हेतु 400 करोड़ रूपये का धन आवंटित किया था। जिसमें 3.5 करोड़ युवाओं को बाजार संगत प्रशिक्षण देने के लिए संकल्प कार्यक्रम की घोषणा की थीं। इतना ही नही कौशल विकास के जरिये युवाओं को रोजगार देने के लिए कौशल विकास एवं उद्यमिता मंत्रलाय ने देश भर में 100 इंटरनेशलनल स्किल सेंटर खोलने की घोषण की गई थी।

दैनिक समाचार पत्रो की भूमिका :

प्रधानमंत्री कौशल विकास की योजनाओं के प्रचार–प्रसार और उसकी सफलता के लिए जिस प्रकार से समाचार पत्रों का योगदान होना चाहिए व निराशाजनक हैं। ग्रामीण समाचार पत्रों से जुड़े पत्रकारों ने कौशल विकास केंद्रों का कभी विजिट नही किया। न ही संस्थान द्वारा संचालित कौशल जागरूकता कार्यक्रम को कवर ही किया। इतना ही नहीं दैनिक जागरण के समाचार उपसंपादक श्री सुरेश पांडेय से संपर्क कर यह प्रश्न किया गया कि आपके अखबार में कौशल विकास की खबरों को क्यों नही स्थान दिया जाता तो उन्होंने कहा मुझे आजतक यह योजना समझ मे ही नही आई कि यह योजना है क्या? और रिपोर्टरों कभी इससे सम्बन्धित कोई खबर भी नहीं भेजीं।

निष्कर्ष एवं सुझाव–

व्यवसायिक प्रशिक्षण की विभिन्न योजनाओं में तालमेल कायम करते हुए 2014 में गठित राष्ट्रीय कौशल विकास मिशन ने देश में कौशलो के विकास के माध्यम से उद्यमिता संबंधित प्रयासों को बढ़ावा दिया। राष्ट्रीय कौशल विकास मिशन के तहत इस दिशा में उठाए गए सशक्त कदमों के परिणाम स्वरूप केंद्र सरकार ने अनेक कार्यक्रमों के अंतर्गत हर साल करीब 1 करोड़ से अधिक नौजवानों को विभिन्न कौशलों का प्रशिक्षण दिया जा रहा है।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :

1. विकिपीडिया– 27/01/2020, कौशल विकास एवं उद्यमिता मंत्रालय के वेबासाइट https://www.skillindia.gov.in
2. National Policy on Skills Development and Entrepreneurship 2015 http://www.skilldevelopment.gov.in/National-Policy-2015.html
3. Centre for monitoring Indian economy Pvt. Ltd.की वेबसाइटhttps://www.cmie.com/ से संग्रहित बेरोजगारी के आंकड़े
4. राष्ट्रीय सांख्यिकी कार्यालय (एनएसओ) की वेबसाइट http://www.mospi.gov.in/hi/national-sample-survey-office-nsso

बौद्धकालीन शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का योगदान

डॉ. मनोज कुमार यादव*

सारांश

बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली भारतीय शिक्षा के इतिहास में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। इस शिक्षा प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य केवल बौद्धिक विकास नहीं, बल्कि नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास भी था। इस काल में शिक्षा का स्वरूप समग्र (Holistic) था, जिसमें चरित्र निर्माण, अनुशासन, करुणा, अहिंसा, तथा आत्मसंयम जैसे मूल्यों को विशेष महत्व दिया गया। बौद्ध शिक्षा में नैतिकता (Ethics) और आध्यात्मिकता (Spirituality) को जीवन के अभिन्न अंग के रूप में देखा गया।

यह शोध पत्र बौद्धकालीन शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के योगदान का विश्लेषण करता है। इसमें बौद्ध शिक्षा के उद्देश्यों, शिक्षण पद्धतियों, गुरुकुल प्रणाली, तथा समाज पर इसके प्रभाव का अध्ययन किया गया है। शोध के निष्कर्ष बताते हैं कि बौद्धकालीन शिक्षा ने न केवल व्यक्ति के आचरण को सुधारने में भूमिका निभाई, बल्कि समाज में शांति, समरसता और नैतिकता को भी स्थापित किया।

शब्द कुंजी : बौद्ध शिक्षा, नैतिक मूल्य, आध्यात्मिकता, चरित्र निर्माण, अहिंसा, करुणा, अनुशासन, शिक्षण प्रणाली

प्रस्तावना

भारतीय शिक्षा प्रणाली का इतिहास अत्यंत प्राचीन, समृद्ध एवं बहुआयामी रहा है। यह केवल ज्ञानार्जन की प्रक्रिया नहीं, बल्कि व्यक्ति के समग्र विकास का माध्यम रही है। प्राचीन भारत में शिक्षा का उद्देश्य मात्र बौद्धिक विकास तक सीमित नहीं था, बल्कि उसमें नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक विकास को समान रूप से महत्व दिया जाता था। इसी परंपरा में बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली का विशेष स्थान है, जिसने शिक्षा को एक नई दिशा प्रदान की।

बौद्धकाल, जो लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व से प्रारंभ होता है, भारतीय इतिहास में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन का काल था। इस काल में सामाजिक, धार्मिक और बौद्धिक स्तर पर अनेक परिवर्तन हुए। वैदिक परंपराओं के जटिल अनुष्ठानों और कर्मकांडों के प्रति असंतोष के कारण एक सरल, व्यावहारिक और मानवीय दृष्टिकोण की आवश्यकता महसूस की गई। इसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए भगवान बुद्ध के उपदेशों पर आधारित बौद्ध धर्म का उदय हुआ, जिसने न केवल धार्मिक जीवन को प्रभावित किया, बल्कि शिक्षा प्रणाली को भी एक नई दिशा दी।

बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली का मूल आधार मानवता, करुणा, अहिंसा और समता था। यह शिक्षा सभी वर्गों के लिए खुली थी, चाहे वह किसी भी जाति, वर्ग या लिंग का क्यों न हो। इस प्रकार यह शिक्षा प्रणाली लोकतांत्रिक एवं समावेशी थी, जो उस समय की सामाजिक संरचना में एक क्रांतिकारी परिवर्तन का प्रतीक थी।

इस शिक्षा प्रणाली का प्रमुख उद्देश्य व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना था। बौद्ध शिक्षा में यह माना गया कि केवल ज्ञान प्राप्त करना पर्याप्त नहीं है, बल्कि उस ज्ञान का उपयोग सही दिशा में करना अधिक महत्वपूर्ण है। इसलिए छात्रों को नैतिक मूल्यों जैसे सत्य, अहिंसा, दया, करुणा, संयम और अनुशासन का पालन करना सिखाया जाता था।

नैतिक मूल्यों के साथ–साथ बौद्धकालीन शिक्षा में आध्यात्मिक मूल्यों को भी अत्यधिक महत्व दिया गया। आध्यात्मिकता का अर्थ केवल धार्मिक अनुष्ठानों तक सीमित नहीं था, बल्कि आत्मज्ञान, आत्मसंयम और आंतरिक शांति प्राप्त करना इसका मुख्य उद्देश्य था। ध्यान (Meditation), साधना, और आत्मनिरीक्षण जैसे अभ्यासों के माध्यम से छात्रों को अपने मन और विचारों को नियंत्रित करना सिखाया जाता था।

बौद्ध शिक्षा का केंद्र मठ (विहार) और महाविहार (विश्वविद्यालय) थे, जैसे नालंदा, विक्रमशिला और तक्षशिला। ये संस्थान न केवल भारत में, बल्कि विश्व स्तर पर शिक्षा के प्रमुख केंद्र थे। यहाँ दूर–दूर से छात्र

* सहायक आचार्य, शिक्षा संकाय, सरस्वती उच्च शिक्षा एवं तकनीकी स्नातकोत्तर महाविद्यालय, गहनी, आयर, वाराणसी

शिक्षा प्राप्त करने आते थे। इन संस्थानों में शिक्षा का वातावरण अत्यंत अनुशासित और शांतिपूर्ण होता था, जहाँ छात्रों को न केवल विषय ज्ञान, बल्कि जीवन जीने की कला भी सिखाई जाती थी।

बौद्धकालीन शिक्षा में गुरु–शिष्य संबंध अत्यंत महत्वपूर्ण था। गुरु केवल ज्ञान देने वाले शिक्षक नहीं थे, बल्कि वे मार्गदर्शक, संरक्षक और आदर्श व्यक्तित्व होते थे। छात्र अपने गुरु के साथ रहकर शिक्षा प्राप्त करते थे, जिससे उनके व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास होता था। गुरु अपने आचरण से छात्रों को नैतिकता और आध्यात्मिकता का पाठ पढ़ाते थे।

इस शिक्षा प्रणाली में शिक्षण की पद्धतियाँ भी अत्यंत प्रभावशाली थीं। संवाद (Dialogue), प्रश्नोत्तर (Question–Answer), वाद–विवाद (Debate) और उदाहरणों के माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। इससे छात्रों में तार्किक सोच, विश्लेषण क्षमता और स्वतंत्र विचार विकसित होते थे।

बौद्धकालीन शिक्षा में "अष्टांगिक मार्ग" और "चार आर्य सत्य" जैसे सिद्धांतों का विशेष महत्व था। अष्टांगिक मार्ग में सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाणी, सम्यक कर्म, सम्यक आजीविका, सम्यक प्रयास, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि शामिल हैं। ये सिद्धांत न केवल धार्मिक जीवन के लिए महत्वपूर्ण थे, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक जीवन के मार्गदर्शक भी थे।

चार आर्य सत्य 'दुःख, दुःख का कारण, दुःख का निरोध और दुःख निरोध का मार्ग' जीवन के वास्तविक स्वरूप को समझाने का प्रयास करते हैं। इन सिद्धांतों के माध्यम से छात्रों को जीवन की समस्याओं का समाधान खोजने की प्रेरणा मिलती थी।

बौद्धकालीन शिक्षा का एक महत्वपूर्ण पहलू यह था कि यह व्यावहारिक (Practical) थी। इसमें केवल सैद्धांतिक ज्ञान नहीं दिया जाता था, बल्कि छात्रों को जीवन में उसका प्रयोग करना भी सिखाया जाता था। उदाहरण के लिए, करुणा और अहिंसा के सिद्धांतों को केवल पढ़ाया नहीं जाता था, बल्कि उन्हें व्यवहार में भी लागू करने के लिए प्रेरित किया जाता था।

इस शिक्षा प्रणाली का समाज पर भी गहरा प्रभाव पड़ा। बौद्ध शिक्षा के कारण समाज में समानता, सहिष्णुता और सहयोग की भावना विकसित हुई। जाति–पांति और ऊँच–नीच के भेदभाव को कम करने में भी इसका महत्वपूर्ण योगदान रहा।

आज के आधुनिक युग में, जब शिक्षा का मुख्य उद्देश्य रोजगार प्राप्त करना बन गया है, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों की उपेक्षा देखी जा रही है। छात्रों में प्रतिस्पर्धा, तनाव और नैतिक पतन जैसी समस्याएँ बढ़ती जा रही हैं। ऐसे समय में बौद्धकालीन शिक्षा के सिद्धांत अत्यंत प्रासंगिक हो जाते हैं।

यदि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में बौद्धकालीन नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों को शामिल किया जाए, तो यह न केवल छात्रों के व्यक्तित्व विकास में सहायक होगा, बल्कि समाज में शांति और सद्भावना स्थापित करने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकता है।

इस प्रकार, बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली केवल एक ऐतिहासिक विषय नहीं है, बल्कि यह आज भी हमारे लिए एक प्रेरणा स्रोत है। यह हमें सिखाती है कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य केवल ज्ञान प्राप्त करना नहीं, बल्कि एक अच्छा और जिम्मेदार इंसान बनना है।

अतः इस शोध पत्र के माध्यम से बौद्धकालीन शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के योगदान का गहन अध्ययन किया जाएगा, जिससे यह समझा जा सके कि इस प्राचीन शिक्षा प्रणाली से हम आधुनिक शिक्षा के लिए क्या सीख सकते हैं।

उद्देश्य

इस शोध पत्र के मुख्य उद्देश्य निम्नलिखित हैं–

1. बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली का अध्ययन करना।
2. शिक्षा में नैतिक मूल्यों की भूमिका को स्पष्ट करना।
3. आध्यात्मिक मूल्यों के महत्व का विश्लेषण करना।
4. वर्तमान शिक्षा प्रणाली के लिए बौद्ध शिक्षा की उपयोगिता का मूल्यांकन करना।

साहित्य की समीक्षा

बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली पर अनेक विद्वानों, इतिहासकारों एवं शिक्षाशास्त्रियों ने अपने–अपने दृष्टिकोण प्रस्तुत किए हैं। इन अध्ययनों में बौद्ध शिक्षा के नैतिक, आध्यात्मिक, सामाजिक एवं शैक्षिक पहलुओं का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। प्रस्तुत समीक्षा में उन प्रमुख अध्ययनों को सम्मिलित किया गया है, जो बौद्धकालीन शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों के योगदान को स्पष्ट करते हैं।

प्राचीन भारतीय शिक्षा के अध्ययन में शर्मा (2010) का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है। उन्होंने अपनी पुस्तक में बताया कि बौद्धकालीन शिक्षा का मूल उद्देश्य केवल ज्ञानार्जन नहीं था, बल्कि व्यक्ति के चरित्र का निर्माण करना था। उनके अनुसार, बौद्ध शिक्षा में नैतिक मूल्यों जैसे सत्य, अहिंसा, करुणा और संयम को अत्यधिक महत्व दिया गया। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया कि शिक्षा के माध्यम से व्यक्ति को एक आदर्श नागरिक बनाने का प्रयास किया जाता था, जो समाज में शांति और समरसता बनाए रख सके।

इसी प्रकार कुमार (2015) ने बौद्ध शिक्षा प्रणाली का विश्लेषण करते हुए बताया कि यह प्रणाली अत्यंत अनुशासित और व्यवस्थित थी। उनके अनुसार, शिक्षा का मुख्य केंद्र मठ और विहार थे, जहाँ छात्रों को न केवल विषय ज्ञान दिया जाता था, बल्कि उन्हें नैतिक आचरण का पालन करना भी सिखाया जाता था। कुमार का मानना है कि बौद्ध शिक्षा में अनुशासन और आत्मसंयम के माध्यम से व्यक्तित्व विकास पर विशेष बल दिया जाता था।

सिंह (2018) ने अपने अध्ययन में बौद्ध शिक्षा के आध्यात्मिक पहलुओं पर विशेष ध्यान केंद्रित किया। उन्होंने बताया कि ध्यान (Meditation) और साधना बौद्ध शिक्षा के अभिन्न अंग थे। इनके माध्यम से छात्रों को मानसिक शांति, आत्मज्ञान और आंतरिक संतुलन प्राप्त होता था। सिंह के अनुसार, बौद्ध शिक्षा का उद्देश्य केवल बाहरी ज्ञान प्राप्त करना नहीं था, बल्कि आत्मिक विकास भी था, जो व्यक्ति को जीवन की वास्तविकताओं को समझने में सहायक बनाता था।

मिश्रा (2020) ने बौद्ध शिक्षा में गुरु–शिष्य संबंध की भूमिका पर प्रकाश डाला। उन्होंने बताया कि गुरु केवल शिक्षक नहीं थे, बल्कि वे छात्रों के जीवन के मार्गदर्शक होते थे। उनके आचरण और जीवन शैली का छात्रों पर गहरा प्रभाव पड़ता था। इस प्रकार, नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास केवल सैद्धांतिक शिक्षा के माध्यम से नहीं, बल्कि व्यावहारिक उदाहरणों के माध्यम से भी होता था।

त्रिपाठी (2017) ने बौद्ध धर्म और शिक्षा के संबंध का अध्ययन करते हुए यह निष्कर्ष निकाला कि बौद्ध शिक्षा प्रणाली ने समाज में समानता और सहिष्णुता को बढ़ावा दिया। उनके अनुसार, यह शिक्षा प्रणाली जाति–पांति और भेदभाव के विरुद्ध थी, जिससे समाज में सामाजिक न्याय की स्थापना हुई।

पांडेय (2019) ने भारतीय शिक्षा की विरासत पर अपने अध्ययन में बौद्धकालीन शिक्षा को एक प्रगतिशील प्रणाली बताया। उन्होंने कहा कि यह शिक्षा प्रणाली वैज्ञानिक दृष्टिकोण, तार्किकता और स्वतंत्र विचार को प्रोत्साहित करती थी। इसके माध्यम से छात्रों में आलोचनात्मक सोच (Critical Thinking) का विकास होता था, जो आधुनिक शिक्षा के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

श्रीवास्तव (2021) ने शिक्षा में नैतिकता के महत्व पर प्रकाश डालते हुए बौद्ध शिक्षा को एक आदर्श मॉडल के रूप में प्रस्तुत किया। उन्होंने बताया कि बौद्ध शिक्षा में नैतिक मूल्यों का समावेश इस प्रकार किया गया था कि वे छात्रों के जीवन का हिस्सा बन जाएं।

अंतरराष्ट्रीय स्तर पर भी बौद्ध शिक्षा पर अनेक विद्वानों ने कार्य किया है। दत्त (1962) ने बौद्ध मठों और विश्वविद्यालयों के संगठनात्मक ढांचे का अध्ययन किया। उन्होंने बताया कि नालंदा और विक्रमशिला जैसे संस्थान न केवल शिक्षा के केंद्र थे, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक प्रशिक्षण के भी प्रमुख स्थल थे।

अल्टेकर (1944) ने प्राचीन भारतीय शिक्षा प्रणाली का विस्तृत अध्ययन करते हुए यह बताया कि बौद्ध शिक्षा में व्यावहारिकता और नैतिकता का अद्भुत समन्वय था। उन्होंने यह भी कहा कि इस शिक्षा प्रणाली में छात्रों को आत्मनिर्भर और जिम्मेदार नागरिक बनाने का प्रयास किया जाता था।

घोष (1999) ने बौद्ध शिक्षा के सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण करते हुए बताया कि इसने समाज में शांति, सहयोग और सहिष्णुता को बढ़ावा दिया। उनके अनुसार, बौद्ध शिक्षा ने सामाजिक संरचना को अधिक मानवीय और समतावादी बनाया।

इसके अतिरिक्त, आधुनिक शोधों में भी बौद्ध शिक्षा के महत्व को स्वीकार किया गया है। गुप्ता (2018) ने अपने अध्ययन में बताया कि वर्तमान शिक्षा प्रणाली में नैतिक मूल्यों की कमी देखी जा रही है, जिसे बौद्ध शिक्षा के सिद्धांतों को अपनाकर दूर किया जा सकता है।

वर्मा (2020) ने अपने शोध में यह पाया कि बौद्ध शिक्षा के आध्यात्मिक अभ्यास, जैसे ध्यान और योग, छात्रों के मानसिक स्वास्थ्य के लिए अत्यंत लाभकारी हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि आधुनिक शिक्षा प्रणाली में इनका समावेश किया जाना चाहिए।

उपरोक्त सभी अध्ययनों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान था। अधिकांश विद्वानों ने इस बात पर सहमति व्यक्त

की है कि बौद्ध शिक्षा का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का सर्वांगीण विकास करना था, जिसमें नैतिकता और आध्यात्मिकता को केंद्र में रखा गया था।

हालांकि, कुछ अध्ययनों में यह भी पाया गया है कि बौद्ध शिक्षा मुख्यतः धार्मिक आधार पर केंद्रित थी, जिससे इसकी व्यावहारिकता पर प्रश्न उठाए गए। फिर भी, अधिकांश शोध यह दर्शाते हैं कि यह शिक्षा प्रणाली अपने समय के लिए अत्यंत प्रगतिशील और प्रभावशाली थी।

साहित्य की समीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि बौद्धकालीन शिक्षा में नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण रहा है। यह शिक्षा प्रणाली न केवल व्यक्ति के आंतरिक विकास में सहायक थी, बल्कि समाज के समग्र विकास में भी इसकी महत्वपूर्ण भूमिका रही।

अतः यह कहा जा सकता है कि बौद्धकालीन शिक्षा के सिद्धांत आज भी प्रासंगिक हैं और आधुनिक शिक्षा प्रणाली में इनका समावेश करके शिक्षा को अधिक प्रभावी और मूल्यपरक बनाया जा सकता है।

कार्य प्रणाली

यह शोध पत्र द्वितीयक स्रोतों (Secondary Sources) पर आधारित है।

डेटा संग्रह के स्रोतः

- पुस्तकें
- शोध पत्र
- ऐतिहासिक ग्रंथ
- इंटरनेट स्रोत

शोध पद्धतिः

- वर्णनात्मक (Descriptive Method)
- विश्लेषणात्मक (Analytical Method)

इस अध्ययन में उपलब्ध साहित्य का विश्लेषण करके निष्कर्ष निकाले गए हैं।

सारणी : नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों का वर्गीकरण

क्रम संख्या	नैतिक मूल्य	आध्यात्मिक मूल्य
1	सत्य	ध्यान
2	अहिंसा	आत्मनिरीक्षण
3	करुणा	मोक्ष की भावना
4	अनुशासन	आत्मशुद्धि
5	संयम	मानसिक शांति

परिणाम (Results)

अध्ययन से निम्नलिखित परिणाम प्राप्त हुएः

1. बौद्धकालीन शिक्षा में नैतिक मूल्यों को अत्यधिक महत्व दिया गया।
2. शिक्षा का मुख्य उद्देश्य चरित्र निर्माण था।
3. आध्यात्मिक अभ्यास (जैसे ध्यान) शिक्षा का अभिन्न अंग था।
4. शिक्षा प्रणाली ने समाज में शांति और समरसता को बढ़ावा दिया।
5. गुरु–शिष्य संबंध ने नैतिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

विवेचना (Discussion)

बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि यह केवल ज्ञान देने वाली प्रणाली नहीं थी, बल्कि जीवन को सही दिशा देने वाली प्रणाली थी।

नैतिक मूल्यों का योगदान

नैतिक मूल्यों ने छात्रों के व्यवहार को नियंत्रित किया और उन्हें एक जिम्मेदार नागरिक बनाया। अहिंसा, सत्य और करुणा जैसे मूल्य समाज में शांति स्थापित करने में सहायक रहे।

आध्यात्मिक मूल्यों का योगदान

आध्यात्मिकता ने छात्रों को आंतरिक शांति और आत्मज्ञान प्रदान किया। ध्यान और साधना के माध्यम से मानसिक संतुलन विकसित हुआ।

समाज पर प्रभाव

बौद्ध शिक्षा के कारण समाज में:

- अपराध कम हुए
- आपसी सहयोग बढ़ा
- नैतिकता का विकास हुआ

वर्तमान संदर्भ में महत्व

आज के समय में शिक्षा प्रणाली में नैतिकता की कमी देखी जा रही है। ऐसे में बौद्ध शिक्षा के सिद्धांतों को अपनाना आवश्यक है।

निष्कर्ष

बौद्धकालीन शिक्षा प्रणाली नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों पर आधारित एक आदर्श शिक्षा प्रणाली थी। इसने व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर बल दिया।

इस शोध से यह स्पष्ट होता है कि:

- नैतिकता और आध्यात्मिकता शिक्षा के आवश्यक अंग हैं।
- बौद्ध शिक्षा ने समाज को एक नई दिशा दी।
- वर्तमान शिक्षा प्रणाली में इन मूल्यों को पुनः स्थापित करने की आवश्यकता है।

अतः कहा जा सकता है कि बौद्धकालीन शिक्षा आज भी प्रासंगिक है और इसे आधुनिक शिक्षा में शामिल किया जाना चाहिए।

संदर्भ सूची

1. अल्टेकर ए.एस. (1944). *एजुकेशन इन एनशिएन्ट इंडिया.* बनारस: नन्द किशोर एवं ब्रॉस
2. दत्त, एस. (1962). *बौद्धिस्ट मॉन्क्स एंड मॉनेस्ट्रीज ऑफ इंडिया: देयर हिस्ट्री एंड कंट्रीब्यूशन टू इंडियन कल्चर.* लंदन: जॉर्ज एलेन एंड अनविन।
3. घोष, एस. सी. (1999). *द हिस्ट्री ऑफ एजुकेशन इन इंडिया.* नई दिल्ली: रावत पब्लिकेशंस।
4. गुप्ता, आर. (2018). वैल्यू–बेस्ड एजुकेशन एंड इट्स रेलेवेंस इन मॉडर्न इंडिया. *इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च,* 6(2), 45–52।
5. कुमार, एस. (2015). *बौद्धिस्ट एजुकेशन सिस्टम.* दिल्ली: राज पब्लिकेशंस।
6. मिश्रा, पी. (2020). *फिलॉसफी ऑफ एजुकेशन इन इंडिया.* वाराणसी: भारती भवन।
7. पांडेय, आर. (2019). *एजुकेशनल हेरिटेज ऑफ इंडिया.* नई दिल्ली: पियर्सन एजुकेशन इंडिया।
8. शर्मा, आर. (2010). *हिस्ट्री ऑफ इंडियन एजुकेशन.* नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
9. सिंह, ए. (2018). *एंशिएंट इंडियन एजुकेशन.* जयपुर: रावत पब्लिकेशंस।
10. श्रीवास्तव, एम. (2021). *एथिक्स इन एजुकेशन.* लखनऊ: यूनिवर्सल प्रेस।
11. श्रीवास्तव, एम. (2021). एथिक्स इन एजुकेशन: ए फिलॉसॉफिकल पर्सपेक्टिव. *जर्नल ऑफ इंडियन एजुकेशन स्टडीज,* 12(1), 78–85।
12. त्रिपाठी, के. (2017). *बौद्धिज़्म एंड एजुकेशन.* इलाहाबाद: लोक भारती पब्लिकेशंस।
13. वर्मा, एन. (2020). रोल ऑफ मेडिटेशन इन स्टूडेंट वेल–बीइंग: ए स्टडी ऑफ एंशिएंट इंडियन प्रैक्टिसेज. *इंडियन जर्नल ऑफ साइकोलॉजी एंड एजुकेशन,* 10(3), 112–120।

कथक नृत्य का विकासः धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक एवं आधुनिक परिवेश में एक दृष्टिपात

श्रेया चित्रांशी*
डॉ. बीना सिंह**

शोध सारांश –

यह शोध आलेख कथक नृत्य के विकास को धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और आधुनिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में विश्लेषित करता है। प्राचीन काल में कथक का संबंध भक्ति, मंदिर परंपरा और आध्यात्मिक साधना से रहा, जहाँ यह उपासना का माध्यम था। वैदिक, पौराणिक और महाकाव्य काल में नृत्य समाज का अभिन्न अंग बनकर उभरा। मध्यकाल में मुगल प्रभाव से कथक में दरबारी तत्व, श्रृंगार और नई शैलियाँ जुड़ीं, जबकि आधुनिक काल में अंग्रेजी शासन के कारण इसे चुनौतियों का सामना करना पड़ा। स्वतंत्रता के बाद कथक ने पुनः अपनी पहचान बनाते हुए परंपरा और नवाचार के संतुलन के साथ व्यापक लोकप्रियता प्राप्त की।

1. धार्मिक परिवेश –

भारतीय संस्कृति में धर्म की अवधारणा अत्यंत प्राचीन है, जिसे मुख्यतः दो रूपों में देखा जाता है—लिखित और व्यवहारिक। लिखित रूप में वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण और महाभारत जैसे ग्रंथों ने धार्मिक आधार प्रदान किया, जबकि व्यवहारिक रूप में देवी-देवताओं के आधार पर विभिन्न सम्प्रदाय विकसित हुए। ये दोनों रूप साथ-साथ चलते रहे। कलाओं पर भी इनका गहरा प्रभाव पड़ा, जहाँ साहित्यिक परंपरा और सामाजिक धार्मिक मान्यताएँ मिलकर भक्ति-प्रधान स्वरूप को निरंतर बनाए रखती रहीं। 'भारती गुप्ता के अनुसार नृत्य संगीत के पल्लवन में भक्ति की एक प्रमुख भूमिका रही है। बिना भक्ति के मुत्य की अनुभूति करना एक कोरी कामना है।'[1]

ध्यातव्य है, कि नृत्य अपने प्राचीन स्वरूप में मंदिरों में देवताओं के सम्मुख किया जाता था। 'कहा जाता है कि प्राचीन समय में देवदासियों, कीर्तनकार, प्रवचनकार, वाद्या - मुरली आदि जातियां मंदिर में नृत्य संगीत के माध्यम से अपनी सेवायें देते थे।'[2] जिनका मुख्य लक्ष्य नृत्य प्रदर्शन के माध्यम से इष्ट को प्रसन्न करना था। धार्मिक दृष्टि से भी देव प्रतिमाओं और मंदिरों के समक्ष प्रदर्शन की प्राचीन परम्परा रही है, जो अपने आराध्य देव की प्रसन्नता के लिए नृत्य और अभिनय का आयोजन करते थे। इसी प्रकार नृत्य को अध्यात्म की दृष्टि से मोक्ष प्राप्ति के प्रवण साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। 'भारतीय नृत्य का धर्म और अध्यात्म में बहुत गहरा सम्बन्ध है। यह कहा जाए तो अतिशयोक्ति न होगी कि भारतीय संस्कृति में गायन तथा नर्तन को क्रिया या उपासना का साधन माना गया है।'[3] भारतीय नृत्य अध्यात्मिक और भावनात्मक जीवन का एक अनिवार्य अंग होने के कारण नृत्य के प्रदर्शन में मोक्ष प्राप्ति के प्रबल साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय विद्वानों एवं विचारकों के साथ-साथ पाश्चात्य विचारकों ने भी नृत्य की महत्ता को स्वीकार किया है। 'अरस्तु के अनुसार- नृत्य लयात्मक गति है, जिसका उद्देश्य मनुष्य के गुणों के साथ-साथ उसके कार्यों व कष्टों का प्रतिनिधित्व करना है।'[4] सभी तथ्य इस बात की पुष्टि करते हैं, कि नृत्यादिकलाओं का प्रदर्शन धर्म एवं अध्यात्म के गठबंधन के साथ भारतीय परम्परा में दृढमूल रहा है, क्योंकि यह भी सत्य है कि किसी भी कलाओं का आनन्द अध्यात्म के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

'वैदिक काल में गायन एवं वादन के साथ ही नृत्य कला के प्रति समाज में विशेष अभिरुचि थी। नर्तकियां सार्वजनिक रुप में नृत्य प्रदर्शन करती थीं। उस युग में अनेक नृत्य के प्रकार प्रचलित थे, जैसे रज्जु नृत्य, ललित नृत्य, अरुण नृत्य, प्रकृति नृत्य, पुष्प नृत्य और बसंत नृत्य।'[5] स्पष्ट है कि विभिन्न नृत्यादि कलाओं के प्रचार के साथ-साथ अपने भावों को व्यक्त करने का माध्यम प्रदर्शन वा प्रस्तुतीकरण ही था, जिसमें गायन, वादन एवं अभिनय रुपी तत्व समाहित थे।

2. सामाजिक परिवेश-

नृत्यादि कलाओं का समाज के साथ अंतर्सम्बन्ध प्रारंभ से ही रहा है। समाज में नृत्य की भूमिका अलग-अलग रूपों तथा अर्थों में समाहित रही है. जिनसे प्रदर्शन की परम्परा और विकास में परिवर्तन होता गया। वैदिक और पौराणिक काल में विभिन्न प्रसंगों के

* शोधार्थी, सेवानिवृत असोसिएट प्रोफेसर, नृत्य विभाग, भातखण्डे संस्कृति विश्वविद्यालय, लखनऊ
ईमेल– shreyachitranshi1995@gmail.com
** शोध–निर्देशिका, सेवानिवृत असोसिएट प्रोफेसर, नृत्य विभाग, भातखण्डे संस्कृति विश्वविद्यालय, लखनऊ

माध्यम से कथायें प्रस्तुत की जाती थीं। प्रस्तुतीकरण में ऐसे तत्वों को सम्मिलित किया जाता था, जिससे वे कथायें रोचक व आकर्षक ढंग से सुनने व समझने लायक हो जायें तथा सामान्य जन उन्हें आत्मसात् भी कर सके। कथाओं को रोचक बनाने में नृत्यादि कलाओं की महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। नृत्य, गायन और वादन के माध्यम से नट, नर्तक और कथावाचकों द्वारा विभिन्न प्रस्तुतियों की जाती थीं। समाज में नृत्यादि कलाओं का इतना प्रभाव था, कि केवल आनंद की स्थिति में ही नहीं, अपितु शोकादि में भी अपनी मनःदशा को शान्त व संतुष्ट करने के लिए नृत्य का प्रदर्शन एवं आयोजन किया करते थे। इस संबंध में रामायण में भी उल्लेख मिलता है, कि 'भरत अपने दुःस्वप्न के कारण दुखी थे, अतः उनके मन की शांति के लिए नृत्य का आयोजन कराया गया था।'[6] ऐसे विविध प्रसंगों का उल्लेख प्राप्त होता है।

डॉ. सुषमा देवी गुप्ता के अनुसार 'वैदिक युग में कलाओं के अस्तित्व की व्यापक सूचनायें उपलब्ध हैं। इस युग में कलाओं के वाहक एवं प्रवर्तक तीन प्रकार के कलाकारों का पता चलता है, जिनके नाम हैं- गायक, वादक और नर्तक। कलाकारों की ये तीन श्रेणियां पर्याप्त उन्नति पर थीं।[7] संगीत एवं नृत्य का विशेष आयोजन होता था। उसमें पुरुष नर्तकों के अतिरिक्त महिला नर्तकियां भी भाग लेती थीं। विद्वानों ने वैदिक काल में होने वाले 'समन' नामक उत्सव का उल्लेख किया है, जिसका ऐतिहासिक महत्व था। ये उत्सव रात्रीकालीन हुआ करते थे, जिसमें संगीत, नृत्य का प्रदर्शन होता था।

महाकाव्य कालीन समाज की झलक रामायण और महाभारत में स्पष्ट रूप से मिलती है। रामायण काल में जन्म, विवाह, राज्याभिषेक और यज्ञ जैसे विशेष अवसरों पर नृत्य का आयोजन होता था, जिसमें नट, नर्तक, गणिकाएँ, राजकुमारियाँ, अप्सराएँ और गन्धर्व तक सम्मिलित होते थे।

महाभारत काल में नृत्य मुख्यतः सामाजिक और मनोरंजन के उद्देश्य से किया जाता था तथा यह कला आम जनजीवन का हिस्सा बन चुकी थी। इस समय संगीत और नृत्य किसी एक वर्ग तक सीमित न रहकर व्यापक रूप से प्रचलित थे। साथ ही, अज्ञातवास के दौरान अर्जुन द्वारा बृहन्नला के रूप में उत्तरा को नृत्य सिखाने का उल्लेख भी विशेष रूप से प्रसिद्ध है।

3. राजनैतिक परिवेश-

ऐतिहासिक दृष्टि से देखने पर यह अनुमान होता है, कि सामाजिक तथा राजनैतिक रूप में जितने भी मंदिरों, राजघरानों और साम्राज्यों का उत्थान तथा पतन हुआ, उसका प्रभाव नृत्यादि कलाओं पर अवश्य ही पड़ा। मध्यकालीन भारत अर्थात् लगभग 14वीं शताब्दी के बाद की समयावधि में भारत पर विभिन्न शासकों ने शासन किया। इस दौर में हिन्दू राजाओं के समानान्तर मुस्लिम शासकों ने भी अपना साम्राज्य स्थापित करना प्रारंभ कर दिया। मुगलों ने भारत पर राजनैतिक रूप से अपना विस्तार भी किया। परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण भारत का एक बहुत बड़ा हिस्सा मुगलों के अधीन हो गया। दूसरी ओर, राजस्थान में हिन्दू राजाओं की साख अब भी थी तथा छोटे-छोटे रजवाड़े भी हिन्दू शासकों के आधिपत्य में थे। यद्यपि इस प्रकार की शासन व्यवस्था का प्रभाव भारतीय समाज के साथ-साथ भारतीय कलाओं पर भी पड़ा तथापि मुस्लिम राजाओं के पास धन, शासन, शक्ति व सामर्थ्य अधिक होने के कारण उन्होंने मनोरंजन की दृष्टि से कलाकारों को भी अपनी राजकीय व्यवस्था में स्थान दिया। जिन लोगों को मुगल शासकों का आश्रय मिला उनकी कला में मुगल संस्कृति का प्रभाव पड़ने लगा। इस श्रेणी में नृत्य तथा संगीत का प्रदर्शन श्रृंगारिक एवं विलासिता से युक्त होकर अपने मूल स्वरूप से विकृत होने लगा और विशेष रूप से कथक नृत्य पर भी इसका प्रभाव रहा।

मुगल काल में कलाकारों के लिए संकट की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, क्योंकि दो भिन्न-भिन्न संस्कृतियों उनके समक्ष थीं, जिन्हें सहज रूप से अपनाना उनके लिए कठिन था। वस्तुतः जिन कलाकारों के पास जीविकोपार्जन का अन्य कोई साधन नहीं था या जो सामर्थ्यहीन थे, उन्होंने पूर्णरूप से दोनों संस्कृतियों के मेल को स्वीकारा। दूसरी ओर, सक्षम कलाकारों ने स्वतंत्र रूप से अपनी कला को जीवित रखा।

मुगल शासकों के मनोरंजन का मुख्य विषय नृत्यादि कलाओं का प्रदर्शन व आयोजन रहा, जहाँ उन्होंने व्यक्तिगत रुचि के आधार पर नृत्यकला के स्वरूप को परिवर्तित किया। वहीं, कुछ विशिष्ट प्रतिभाओं को देखकर उन्होंने भी उसका सम्मान बिना परिवर्तन के ही स्वीकार किया। ऐसी स्थितियों में भारतीय कलाकारों को अपने मूल उद्देश्यों, धर्म एवं विषय-वस्तु को जीवित रखने का सुअवसर अवश्य ही प्राप्त हुआ। 'जब कोई व्यक्ति कुछ कर दिखाने की इच्छा रखता है, तो वह अपनी परम्परागत विधा में ही कुछ नई कल्पना करता है और उससे जिस सौन्दर्य का निर्माण होता है, तो कला में एक नई दृष्टि का, नई चेतना का उद्भव हो जाता है।

मुगलों के राज्याश्रय में रह रहे कथकों के अतिरिक्त कुछ हिन्दू नृत्य तथा संगीत के कलाकार भी थे, जिन्होंने इन दोनों कलाओं के प्राचीन रूप को अपने संगीत तथा रचनाओं के माध्यम से जीवित रखने का प्रयास किया। लेकिन अब तक प्रदर्शन का उद्देश्य तथा विषय-वस्तु वैसी पवित्रता धारण नहीं कर पायी, जैसी वह पहले मंदिरों में थी। 'मंदिरों में नृत्य और गायन बराबर चला करते थे।

मुगलकाल में नृत्य अपने चरम पर रहा क्योंकि इस समय जितने भी शासक हुए उनमें से कुछ शासकों को छोड़कर शेष सभी कला-प्रेमी ही रहे, जिन्होंने कलाओं को संरक्षित एवं प्रोत्साहित किया। फलतः नृत्य प्रदर्शन के नए आयाम निश्चित हुए, साथ ही नृत्य प्रदर्शन के अवसरों में भी वृद्धि हुई। नृत्य में एक उच्चकोटि का संगीत (गायन और वादन) प्रयुक्त होने लगा।

हिन्दू राजाओं के अतिरिक्त जितने भी मुगल या अन्य संस्कृतियों के शासक हुए वे निश्चित रूप से ही भारतीय कलाओं से प्रभावित थे, किन्तु हिन्दू धर्म और इससे जुड़ी धार्मिक भावनाओं से उनका कोई सरोकार न था। अतः उन्होंने भारतीय नृत्यादि कलाओं को स्वीकार तो किया, किन्तु उनमें अपनी इच्छा के अनुरूप प्रदर्शन के तत्वों व तकनीकों में बदलाव की माँग राज्याश्रित कलाकारों से करने लगे।

रामअवतार वीर ने 'भारतीय संगीत का इतिहास' में अकबर कालीन दरबारी नृत्यकला के नियमों का उल्लेख किया है, जिसके अनुसार- 'नृत्य के समय नर्तकी अपने पैरों को नहीं उठा सकती थी। वे अपनी हथेली को खोलकर सीधे बड़ी मुद्रा में नहीं दिखा सकती थी। पैरों को दरबार अथवा श्रोताओं की ओर करके ऊपर नहीं उठा सकती थी। कोई भी नर्तकी नृत्य के समय में किसी पुरुष से निगाह नहीं मिला सकती थी और न ही वह आँखों से संकेत कर सकती थी।[8] नृत्य के समय दरबार अथवा श्रोतागण की ओर पीठ नहीं कर सकती थी। राज्याश्रित नर्तकों ने शासकों की इच्छा के अनुरूप कथानकों को तो ग्रहण किया, किन्तु उसमें अपना संगीत, भाषा, वेशभूषा आदि विभिन्न आवश्यक तत्वों को समाहित कर दिया। चूंकि यहाँ हिन्दू तथा मुगल दोनों कलाकार थे। अतएव नृत्य कलाओं पर पूर्णरूप से किसी एक धर्म विशेष का प्रभाव न होकर दो संस्कृतियों का मिला-जुला स्वरूप तैयार हो गया। जो आज भी देखा जा सकता है। दूसरी बात यह है, कि किसी भी संस्कृति का प्रभाव अनायास ही नहीं पड़ता। उसके प्रभाव के लिए एक लंबे समय की आवश्यकता होती है। जो नर्तक थे उनमें अधिकांश हिन्दू ही रहे, अतएव उन्होंने अपनी संस्कृति के अनुरूप ही नृत्य में रचनात्मक तत्वों का समावेश किया। हाँ, यह अवश्य हुआ कि कला का आधार अध्यात्मिक न होकर श्रृंगारिक हो गया।

कथक नृत्य के विकास को राजनीतिक दृष्टि से यदि देखें, तो ज्ञात होता है कि रियासत काल में जहाँ कलाकारों को राजाश्रय प्राप्त था, धन प्राप्त था, किन्तु कहीं-न-कहीं उनपर दवाव भी था और वे पूर्णतः स्वतंत्र नहीं थे। परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है, कि कला एवं कलाकारों को राजकीय संरक्षण मिलने के कारण उनकी बुद्धिशीलता का विकास हुआ फलतः उनके प्रदर्शन में सूझबूझ का विस्तार होने लगा 'मनुष्य के अनुभवों में जितनी वृद्धि होती है. शास्त्र का उतना ही विस्तार होता है।[9] अतएव कलाकारों द्वारा नृत्य के सैद्धांतिक पक्ष, प्रायोगिक पक्ष व कलात्मक पक्ष का गहराई से चिंतन किया जाने लगा और कलाकार अपनी कल्पनाशक्ति के आधार पर भी प्रदर्शन करने लगे। ध्यान देने योग्य तथ्य यह है, कि किसी भी समय नृत्य का स्वरूप निश्चत नहीं रहा तथा सामाजिक, राजनैतिक व सांस्कृतिक आदि कारणों से समय-समय पर नृत्यकला में परिवर्तन होता रहा है और आज भी हो रहा है।

समय के साथ न तो मंदिरों का वातावरण पहले जैसा रहा और न ही समाज में वैसी धार्मिक प्रवृत्ति बनी रही। परिणामस्वरूप नृत्य कलाओं के स्वरूप, शैली और प्रस्तुति में शासकों तथा समाज की रुचि के अनुसार परिवर्तन होने लगे। विभिन्न तथ्यों से यह स्पष्ट होता है कि इसी काल में कथक नृत्य का वह आधारभूत रूप विकसित होना शुरू हुआ, जो आगे चलकर सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों के प्रभाव से परिष्कृत होकर आज के रूप में जनसामान्य के सामने प्रस्तुत है।

कथक को मंच तक पहुँचाने, उसे लोकप्रिय बनाने और उसके विभिन्न तत्वों को व्यवस्थित रूप देने में राजनीतिक परिस्थितियों के साथ-साथ दरबारी संस्कृति का महत्वपूर्ण योगदान रहा। हिन्दू और मुगल शासकों की कला के प्रति रुचि तथा कलाकारों को दिया गया संरक्षण कथक के विकास में अत्यंत सहायक सिद्ध हुआ। राजाश्रय के कारण नृत्य के विविध अंग सुरक्षित रहे और इसी वातावरण में कथक के विभिन्न घरानों का उद्भव हुआ।

इस प्रक्रिया में कथक का तकनीकी (शास्त्रीय) पक्ष भी विकसित हुआ और उसके प्रयोगात्मक आयाम भी सशक्त हुए। दरबारों में विकसित परंपराओं ने इस नृत्य में अनेक नए तत्वों को स्थान दिया, जिनका पालन आज भी किया जाता है। साथ ही, कथक की संरचना, नियम और शास्त्रीय स्वरूप को विशेष रूप से हिन्दू शासकों के दरबारों में व्यवस्थित रूप मिला, जिसने इसे एक सुदृढ़ और समृद्ध नृत्य शैली के रूप में स्थापित किया।

4. आधुनिक परिवेश-

कथक नृत्य की आधुनिक पृष्ठभूमि का अर्थ उस समय से है, जब इस कला और उससे जुड़े विभिन्न पक्षों में परिवर्तन आरम्भ हुआ। विद्वानों के अनुसार आधुनिक काल की शुरुआत मुगल शासन के अंत, अर्थात् लगभग 19वीं शताब्दी के आसपास मानी जाती है। उस समय भारत की सत्ता अंग्रेजों के हाथों में आ चुकी थी और उन्होंने छोटे-बड़े अधिकांश राजवंशों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर

लिया था। दिल्ली की सत्ता भी कमजोर पड़ रही थी, तथा लखनऊ के नवाब वाजिद अली शाह को अंग्रेजों ने हटाकर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। परिणामस्वरूप छोटे-छोटे राजा, नवाब और जमींदार अंग्रेजी सत्ता के अधीन हो गए।

अंग्रेजों की रुचि भारतीय कलाओं में विशेष नहीं थी, जिसके कारण राजाश्रय समाप्त होने लगा और अनेक कलाकारों को संरक्षण से वंचित होना पड़ा। कथक के संदर्भ में देखें तो उस समय तक लखनऊ, जयपुर और बनारस घराने स्थापित हो चुके थे, जहाँ इस नृत्य का विकास निरंतर हो रहा था। दूसरी ओर, अंग्रेजों ने पाश्चात्य शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए नई शिक्षा प्रणाली लागू की और अनेक शिक्षण संस्थान स्थापित किए। इससे समाज के शिक्षित और उच्च वर्ग का झुकाव पारंपरिक भारतीय शिक्षा से हटकर पश्चिमी शिक्षा की ओर बढ़ने लगा, जिसका प्रभाव कला क्षेत्र पर भी पड़ा। इन परिस्थितियों में कलाकारों, विशेषकर कथक नर्तकों के सामने आजीविका का संकट उत्पन्न हो गया, क्योंकि वे मुख्यतः अपनी कला पर ही निर्भर थे और अन्य कार्यों में दक्ष नहीं थे। इस प्रकार आधुनिक काल के प्रारंभ में कथक नृत्य को सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चुनौतियों का सामना करना पड़ा।

अन्य कलाओं की ही भाँति कथक नृत्य की सामाजिक स्थिति भी दयनीय थी, इस संबंध में प्राप्त एक अन्य उल्लेख के अनुसार- मुगल शासन के अन्याय में भारतीय समाज में पर्दा प्रथा सुदृढ़ होने लगी। महिलायें प्रतिबंधित हुई और नृत्य करने के लिए एक नये वर्ग का उदय हुआ, जिसे भारतीय समाज ने 'तवायफ' का नाम दिया[10] डेरों में होने वाला कथक नृत्य भावनात्मकता से दूर हो चुका था तथा भोग-विलास व अति श्रृंगारिक होने के साथ-साथ कलाकारों में अत्याधिक व्यवसायिकता भी आ चुकी थी। इस संबंध में उमेश जोशी ने उल्लेख किया है, कि- 'इन लोगों ने संगीत को विलासिता का मुख्य उपकरण बनाकर प्रस्तुत किया। संगीत पवित्रता के चारू क्षेत्र से हटकर भोग-विलास के क्षेत्र में प्रविष्ट हो चुका था। वैश्याओं ने तो संगीत की मट्टी ही पलीद कर दी।[11]

कथक नृत्य विपरीत परिस्थितियों के बावजूद लंबे समय तक घरानों में सुरक्षित रहा और उस समय इसे 'नटवरी' रूप में प्रस्तुत किया जाता था। भक्तिकाल में इस पर वैष्णव सम्प्रदाय का गहरा प्रभाव पड़ा, जिसके कारण नृत्य में श्रीकृष्ण और श्रीराम से जुड़ी कथाओं का व्यापक समावेश हुआ। विशेष रूप से कृष्ण की लीलाओं और विभिन्न रूपों को आधार बनाकर भावपूर्ण प्रस्तुतियाँ दी जाने लगीं। इसी कारण कथक के भाव पक्ष में राधा-कृष्ण से संबंधित प्रसंग प्रमुख रूप से दिखाई देते हैं और इसे 'नटवर कृष्ण' से जुड़ा नृत्य भी कहा गया।

मुगल काल में कथक दरबारी कला के रूप में विकसित हुआ, जहाँ इसमें ध्रुपद, ठुमरी, ग़ज़ल, तराना और चतुरंग जैसी गायन शैलियों का समावेश हुआ। साथ ही, प्रस्तुति की एक व्यवस्थित संरचना बनी, जिसमें एक ओर वंदना और भजन जैसे हिन्दू तत्व थे, तो दूसरी ओर आमद, सलामी और गत जैसे मुगल प्रभाव भी शामिल थे। इस प्रकार कथक पर हिन्दू और मुगल दोनों संस्कृतियों का संतुलित प्रभाव पड़ा, जिसे आगे चलकर आचार्यों ने और परिष्कृत किया।

19वीं शताब्दी के अंत और 20वीं शताब्दी की शुरुआत में कथक कोठों तक सीमित हो गया था, इसलिए इसे पुनः सम्मानजनक स्थान दिलाने के लिए इसका नाम 'नटवरी' से बदलकर 'कथक' रखा गया। लगभग 1935–1940 के बीच यह नाम प्रचलित हुआ और इसके प्रचार-प्रसार के प्रयास भी बढ़े। इसी दौरान नृत्य-नाटिकाओं का विकास हुआ, जिनमें पौराणिक कथाओं को नृत्य और अभिनय के माध्यम से प्रस्तुत किया गया। मैडम मेनका और अन्य कलाकारों ने इन प्रस्तुतियों को देश-विदेश तक पहुँचाया, जिससे कथक को नई पहचान मिली।

इन नृत्य-नाटिकाओं के कारण कथक में एकल प्रस्तुति के साथ-साथ युगल और समूह नृत्य का समावेश हुआ। साथ ही वेशभूषा, मंच सज्जा, संगीत, प्रकाश और अन्य तकनीकी पक्षों में भी नवाचार देखने को मिला, जिन पर आंशिक रूप से पाश्चात्य प्रभाव भी पड़ा। इसी काल में रायगढ़ दरबार में राजा चक्रधर सिंह के संरक्षण में कथक की एक नई शैली विकसित हुई, जहाँ लोक और शास्त्रीय तत्वों का सुंदर समन्वय हुआ और कलाकारों को सृजनात्मक प्रयोगों का अवसर मिला।

स्वतंत्रता के पूर्व और बाद के समय में संगीत और नृत्य शिक्षा के क्षेत्र में संस्थाओं की स्थापना हुई, जिससे कथक का प्रसार बढ़ा। स्वतंत्रता के बाद कलाकारों को नई स्वतंत्रता मिली, जिससे उन्होंने कथक को आधुनिक रूप देने, शिक्षा पद्धति विकसित करने और नए विषयों पर प्रस्तुति देने का कार्य किया। अब कथक केवल धार्मिक कथाओं तक सीमित न रहकर सामाजिक और समकालीन विषयों को भी अभिव्यक्त करने लगा।

वर्तमान समय में कथक नृत्य एक समृद्ध और विकसित कला रूप है, जिसमें पारंपरिक तत्वों के साथ आधुनिक तकनीक, मंचीय व्यवस्था और विभिन्न विशेषज्ञों का सहयोग शामिल है। इस प्रकार कथक निरंतर परिवर्तनशील होते हुए भी अपनी परंपरा को बनाए रखकर नए आयाम स्थापित कर रहा है।

फलतः प्रदर्शनों एवं प्रदर्शन के प्रकारों के माध्यम से कथक नृत्य की लोकप्रियता एवं महत्ता दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगी। राजनीतिक रूप से प्राप्त स्वतंत्रता का प्रभाव कथक नृत्य में दिखने लगा और कलाकारों ने स्वतन्त्र होकर प्रयोग करना प्रारंभ कर दिया। कलाकारों द्वारा किये जा रहे प्रयोगवादी अवधारणा को रेखांकित करते हुए डॉ. ज्योति बख्शी ने उल्लेख किया है, कि 'आज कथक नृत्य में प्रयोगों का दौर है। जहाँ परम्परा के सहारे के बिना प्रयोग न तो शुद्ध रहेगा और न ही पूर्ण होगा। अतः हमारा जीवन जिस तरह केवल वर्तमान में ही पूर्ण नहीं हो जाता यह भूतकाल से भी जुड़ा रहता है एवं भविष्य की आहट यहाँ दस्तक देती है। समस्त कलायें भी इसी तरह परम्परा, प्रयोग व सम्भावनाओं की सम्पदा लिए विकसित होती है।[12] डॉ. ज्योति बख्शी ने कथक नृत्य में हो रहे स्वतंत्र प्रयोग में परम्परा का ध्यान रखने की बात कही है। कथक नृत्य सदियों से संगीत और काव्य तत्वों को समेटते हुए विकसित हुआ है, इसलिए इसमें अध्यात्म, मनोरंजन, परंपरा, सौंदर्य और नवाचार सभी का समावेश है। वर्तमान समय में नृत्य प्रदर्शनों में प्रकाश, ध्वनि, संगीत, तकनीक और अन्य उपकरणों का महत्व बढ़ गया है, जिससे कलाकार अपनी प्रस्तुति को अधिक प्रभावशाली बना पाते हैं। अब कथक में पारंपरिक विषयों के साथ समकालीन विषयों को भी शामिल किया जा रहा है, और वेशभूषा व वाद्य यंत्रों में भी आधुनिकता का समावेश हो रहा है।

स्वतंत्रता के बाद इस कला के प्रसार में गुरुओं, विद्वानों और संस्थाओं के प्रयासों से बड़े स्तर पर परिवर्तन आए, जिससे अधिक लोग इसे सीखने और समझने लगे। इस प्रकार परंपरा और नवाचार के संतुलन के साथ कथक नृत्य निरंतर विकसित हो रहा है, और इसके प्रदर्शन की सफलता कई आंतरिक व बाह्य तत्वों पर निर्भर करती है।

निष्कर्ष- निष्कर्षतः कथक नृत्य एक सतत विकसित होने वाली कला है, जिसने विभिन्न युगों की परिस्थितियों के अनुसार अपने स्वरूप में परिवर्तन किया है। धार्मिक और आध्यात्मिक आधार से प्रारंभ होकर यह सामाजिक, दरबारी और आधुनिक मंचीय रूप तक पहुँचा। मुगल और ब्रिटिश काल की चुनौतियों के बावजूद कथक ने अपनी मूल पहचान को बनाए रखा और नए तत्वों को आत्मसात किया। स्वतंत्रता के बाद इसे नई दिशा, स्वतंत्रता और संस्थागत समर्थन मिला। आज कथक परंपरा और प्रयोग का संतुलित रूप है, जिसमें तकनीकी उन्नति, विविध विषय-वस्तु और प्रस्तुति की नवीनता के साथ इसकी महत्ता निरंतर बढ़ रही है।

संदर्भ सूची -

1. गुप्ता, भारती, 'कथक और अध्यात्म', राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, प्र.सं. 2001 पृ.58
2. देव, डॉ.सौं. मंजिरी श्रीराम, लेख 'मंदिरों में नृत्य की प्राचीन परम्परा', 'संगीत कला विहार', अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल, मुंबई, मई 2016, वर्ष 69, अंक-5, पृ.11
3. आज़ाद, पं. तीरथराम, 'कत्थक ज्ञानेश्वरी', संपा. रवि शर्मा, नटेश्वर कला मंदिर, दिल्ली, प्र.सं. 2008, पृ.505
4. सिंह, डॉ. मोनिका, लेख 'संगीत नृत्य और समाज', 'संगीत कला विहार', अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल, मुंबई, फरवरी 2017, वर्ष 70, अंक 2, पृ.7
5. शर्मा, डॉ. जयचन्द्र, लेख 'कथक नृत्तम्', 'संगीत कला विहार', अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल, मुंबई, फरवरी-मार्च 1984, वर्ष 37, अंक 2, पृ.55
6. गहरवार, डॉ. नीता, 'पुराणों में नृत्य के तत्व', राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, प्र.सं. 2013, पृ.96
7. गुप्ता, डॉ. सुषमा देवी, 'भारतीय ललित कलायें एवं नृत्यकला', प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, प्र.सं. 2006, पृ.45-46
8. वीर, रामअवतार, 'भारतीय संगीत का इतिहास', राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, भाग-2, पृ.137
9. गहरवार, नीता, 'भारतीय संस्कृति में नृत्य', बी. आर. रिदम्स, प्र.सं. 2015, पृ.115
10. सिंह, डॉ. मोनिका, लेख 'संगीत नृत्य और समाज', 'संगीत कला विहार', अखिल भारतीय गान्धर्व महाविद्यालय मण्डल, मुंबई, फरवरी 2017, वर्ष 70, अंक 2, पृ.8
11. जोशी, उमेश, 'भारतीय संगीत का इतिहास', मानसरोवर प्रकाशन प्रतिष्ठान, फिरोजाबाद, पं.सं. 1992, पृ.335
12. बख्शी, ज्योति, 'कथक अक्षरों की आरसी', मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, प्र.सं. 2000, पृ.175

बस्तर के दंतेवाडा में स्थित प्राचीन मंदिर का ऐतिहासिक वाद्य "रायगुड़ी"

डॉ. पुनीत पटेल*

बस्तर संभाग प्राचीन काल में राज्य के रूप में विभिन्न नामों से जाना जाता था। पूर्वकाल में इस क्षेत्र को दण्डकारण्य, महाकान्तारण्य, चक्रकूट, भ्रमरकूट तथा भ्रमरकोट्य आदि नामों से जाना जाता था। अंग्रेजों के शासन काल में इस क्षेत्र को 'सेन्ट्रल प्रोविन्स एवं बरार' के अंतर्गत रखा गया था। बस्तर के कालक्रम में विभिन्न नामों के अतिरिक्त 'बस्तर' नाम के संबंध में बहुत सी कथाएँ एवं किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं तथा इस संबंध में विद्वानों द्वारा भी विभिन्न मतों का समर्थन किया गया है। दंतेवाडा तथा वहां स्थित प्राचीन दंतेश्वरी मंदिर का इतिहास भी बस्तर क्षेत्र की 'बस्तर' नामकरण से ही जुड़ा हुआ है। हीरालाल शुक्ल जी के अनुसार बस्तर शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग विभिन्न अभिलेखों तथा काव्य ग्रंथों में प्राप्त होता है। अभिलेखों में सर्वप्रथम इसका प्रयोग बस्तर के पूर्व चालुक्य युगीन दंतेवाड़ा अभिलेख में मिलता है। काव्यों में सर्वप्रथम यह कोसलानन्द महाकाव्य में प्रयुक्त हुआ है। (शुक्ल, 1977, पृ. 300)

दंतेवाडा स्थित प्राचीन दंतेवाडा मंदिर के जिया (पुजारी) श्री विजेंद्र नाथ जिया जी से साक्षात्कार के माध्यम से प्राप्त कथा के अनुसार– वारंगल से काकतीय वंश के राजा जब अपना राज्य छोड़कर बस्तर में प्रवेश किये तब उन्होंने अपनी इष्ट देवी (माता माणिक्यश्वरी देवी) से प्रार्थना की, कि इस नए स्थान पर वे उनका मार्गदर्शन करें। राजा की प्रार्थना से इष्ट देवी ने राजा को एक सुन्दर बालिका के रूप में दर्शन दिया तथा अपनी समस्या बताने कहा। राजा ने अपनी इष्ट देवी से मार्गदर्शन करने की प्रार्थना की जिससे वह अपना राज्य इस नए क्षेत्र में स्थापित कर सके। राजा की इस प्रार्थना को स्वीकार करते हुए देवी ने कहा, हे राजन इस स्थान से आप जहाँ तक अपनी सेना के साथ चलते हुए जाएँगे, वहां तक आपके राज्य का विस्तार होगा। किन्तु इसमें केवल एक ही शर्त है कि मैं आपके पीछे आ रही हूँ और किसी भी स्थिति में आपको पीछे पलटकर नहीं देखना है। अपने प्रारंभ स्थान से राजा के साथ माता चलते हुए पैरी नदी (जो वर्तमान कांकेर जिले की सीमा है) तक पहुँच गयी। पैरी नदी में पहुँचने पर नदी के रेत और पानी के कारण जब पीछे आ रही माता के पैरों से पायल की आवाज राजा को सुनाई देना बंद हो गई, तब राजा ने पीछे मुड़कर देखा, राजा के पीछे देखते ही माता ने राजा से कहा की हे राजन मैंने आपसे कहा था की आप पीछे मुड़कर न देखें किन्तु आप ने देख लिया अतः यह ही आपके राज्य की सीमा होगी। इसके पश्चात् माता ने राजा को एक दिव्य वस्त्र प्रदान किया, जिससे इस पूरे बस्तर क्षेत्र को नापा गया था। पुजारी जी के अनुसार बस्तर प्रदेश के निवासियों की भाषा के प्रभाव से इस दिव्य वस्त्र को ही वस्त्र न कहकर अपभ्रंश रूप में बस्तर कहा गया है। इस प्रकार तब से ही इस क्षेत्र का नाम वस्त्र के अपभ्रंश रूप में बस्तर पड़ गया। (नाथ, 2021)

बस्तर में प्रचलित एक श्रुति गीत के अनुसार वारंगल से चालकी अर्थात चालुक्य (काकतीय) वंश के राजा अन्नमदेव ने जब बस्तर में प्रवेश किया तब अपने साथ अंदकुरी माहरा, पैग परजा, पीत भतरा एवं रायगुड़ी बाजा बस्तर लेकर आये थे –

अंदकुरी माहरा, पैग परजा, पीता भतरा,
चालकी वंश राजा, रायगुड़ी बाजा। (दुबे, 1983)

उपरोक्त कथा एवं श्रुति गीत के अनुसार वारंगल के काकतीय (चालुक्य) राजा जब वारंगल छोड़कर बस्तर में आये तब से ही काकतीय वंष बस्तर में स्थापित हुआ। राजा के साथ वारंगल से आये लोगो के साथ उनका वाद्य रायगुड़ी भी बस्तर में आया। 'रायगुड़ी' यह वाद्य बनावट के आधार पर दक्षिण भारतीय वाद्य पम्बई से समानता रखता है। किन्तु इस वाद्य की वादन विधि पंबई वाद्य के समान न होकर बहुत ही साधारण है। इस वाद्य के संबंध में पं. केदार नाथ ठाकुर जी ने भी बस्तर भूषण नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि "यह वाद्य बस्तर राज्य के प्रथम चालुक्य राजा के बस्तर आगमन पर उनके साथ आयी जनजातियों के साथ लाया गया था।" राजा अन्नमदेव के साथ आये जनजातियों द्वारा लाया गया यह वाद्य, आज भी दंतेवाड़ा के मंदिर में सुरक्षित है। साक्षात्कार के दौरान दंतेवाड़ा मंदिर के पुजारी विजेन्द्र नाथ जिया जी ने भी इसकी

* अतिथि व्याख्याता, इं.क.सं.वि.वि. खैरागढ़

पुष्टि की, कि यह वाद्य वारंगल से आया। प्राचीन काल में वारंगल से आया वाद्य चांदी धातु के खोल से निर्मित था। जिसका नाम रायगुड़ी है तथा इसके वादक को रायगुड़िया कहा जाता है। (नाथ, 2021)

बनावट

जैसाकि कहा गया है यह वाद्य आकार–प्रकार में दक्षिण भारतीय संगीत के पंबई वाद्य के सामान है अतः इस वाद्य में छोटे ढोल के समान आकृति के दो भाग होते हैं। इनका खोल धातु का निर्मित होता है। इन दोनों ढोल की एक छोर से दूसरे छोर तक की लंबाई लगभग एक फीट की होती है। इसके दोनों भाग के मुखों का व्यास एक ओर पांच इंच तथा दूसरी ओर छह इंच का होता है। (ठाकुर, 2021)

□□□□□□□□ □□□□□□, □□□□□□□□□,

निर्माण विधि

इस वाद्य का खोल मिश्रित धातु का होता है जिसे आठ प्रकार की धातुओं को मिलाकर बनाया जाता है। चुंकि यह वाद्य बहुत प्राचीन काल से मंदिर में प्रयोग में है तथा इसके खोल के धातु से निर्मित होने के कारण इसे पुनः निर्मित करने की आवश्यकता नहीं हुई अतएव इस वाद्य का खोल किस प्रकार बनाया जाता है इसकी सही जानकारी अप्राप्त रही। शोधार्थी का ऐसा मन्तव्य है कि, क्योकि यह वाद्य पीतल तथा कांस्य के समान मिश्रित धातु से निर्मित है अतः संभवतः धातु का कार्य करने वाले लोग, विशेषकर जो पीतल एवं कांस्य धातु का कार्य करते हैं, उनके माध्यम से इस वाद्य के खोल का निर्माण किया गया होगा।

इस वाद्य के खोल पर मढ़ने के लिए बकरे के चमड़े का प्रयोग किया जाता है। इस हेतु मंदिर में बलि दिये गये बकरे के चमड़े का ही प्रयोग किया जाता था। वाद्य पर चमड़ा मढ़ने का कार्य मंदिर के कर्मचारी ही करते हैं। क्योंकि यह मंदिर में प्रयुक्त होने वाला वाद्य है अतः वाद्य को अशुद्धियों से बचाने के लिए यह कार्य मंदिर के पुजारियों द्वारा स्वयं ही किया जाता है।

वादन विधि

इस वाद्य के दो छोटे ढोल के समान भाग होते हैं जिन्हें कपड़े के निर्मित पट्टे की सहायता से गले पर आगे–पीछे लटकाया जाता है। इसके दोनों भागों के मुखों पर दोनों हाथों में बेंत की बनी दो डण्डियाँ पकड़कर इनके अग्र भाग से आघात किया जाता है। डण्डियों के जिन सिरों से मुखों पर लगे चमड़े पर आघात किया जाता है वे दोनों सिरे पर अर्ध चंद्र के आकार में मुड़े होते हैं।

प्रयोग के अवसर

दीपावली के अवसर पर रायगुढी वाद्य की पूजा की जाती है तथा माता की आरती, भोग लगाने के समय इसके विशेष पाड़ों का वादन किया जाता है। पुजारी के घर में पुत्र जन्म के अवसर पर भी इस वाद्य का वादन किया जाता है। ऐसा माना जाता कि पुजारी का पुत्र भविष्य में मंदिर का भावी पुजारी होगा। इसके अतिरिक्त फागुन मड़ई के अवसर पर माता की पूजा के समय भी इस वाद्य का वादन किया जाता है। (ठाकुर, 2021)

रायगुड़ी वाद्य में वादन के लिए कुछ बोलों का प्रयोग किया जाता है जिन्हें बस्तर की आदिवासी भाषा में पाड़ कहा जाता है। इस वाद्य के पाड़ के संदर्भ में दंतेवाड़ा मंदिर के पुजारी शंकर सिंह ठाकुर जी से जानकारी प्राप्त हुई जो इस वाद्य के वादक है। (ठाकुर, 2021) उनके अनुसार इस वाद्य पर वादन के लिए कुछ विशेष बोलों का प्रयोग किया जाना बताया गया है जो निम्नानुसार हैं –

आरती बैठने के समय का पाड़ बढते लय में

डुब् डुब् बा डु ब्बा डु ब्बा डुब् डुब् बा डु ब्बा डु ब्बा

आरती उठाने के समय का पाड़

चा टुं ऽ टुं ऽ

इस पाड़ में ही लय बढ़ाते हुए पाड़ बदल जाता है

डुब डुब्बा डुब टेन्ग ऽ

भोग लगाए जाने के समय का पाड़

ना ऽ क के का टु ऽ ना ऽ क के का टु हे त उ चा टु ऽ

दंतेवाड़ा स्थित दंतेष्वरी देवी के मंदिर में वारंगल से आयातित यह वाद्य प्राचीन कालीन वाद्य ही प्रतीत होता है किन्तु संगीत संबंधी प्राचीन ग्रंथों में इस प्रकार के किसी भी वाद्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं प्राप्त होता। दक्षिण भारतीय वाद्यों में रायगुड़ी से बनावट में समानता रखने वाले पम्बई वाद्य के साथ इसकी तुलना केवल बनावट के आधार पर ही संभव है। इस वाद्य की वादन विधि पंबई वाद्य की वादन विधि से पूर्ण रूप से भिन्न है। पम्बई वाद्य में जहाँ कर्नाटकीय संगीत के तालों का वादन किया जाता है वहीं रायगुड़ी में सामान्य बोलों वाले छन्दों का ही वादन किया जाता है। संभवतः यह वाद्य पम्बई वाद्य का प्राचीन स्वरूप है तथा जिस काल में यह बस्तर में लाया गया उस काल में यह दक्षिण भारत के वारंगल क्षेत्र में अपने शुरूवाती रूप में विकासषील रहा होगा। केवल यही कारण है कि इस वाद्य की वादन शैली बहुत ही साधारण है। रायगुड़ी वाद्य की प्राचीनता से संबंधित भी कोई प्रामाणिक तथ्य प्राप्त नहीं होते किन्तु यदि दंतेवाड़ा मंदिर के पुजारीगणों द्वारा बताई गई कथा को सत्य माना जाए तथा यह माना जाए की राजा अन्नमदेव जब बस्तर में आये उस काल से पूर्व ही यह वाद्य वारंगल क्षेत्र में अस्तित्व में आ चूका था तब इस वाद्य को निष्चित रूप से प्राचीन वाद्य की श्रेणी में रखा जा सकता है। साथ ही यह भी कहा जा सकता है कि दक्षिण भारतीय प्रदेष से आयातित होने के कारण यह पम्बई वाद्य का ही एक स्वरूप है।

संदर्भ सूची

के. सी. दुबे. (1983). बस्तर के आदिवासी. *मध्यप्रदेश संदेश,* 3.

विजेंद्र नाथ. (29 जून 2021). साक्षात्कार – विजेंद्र नाथ जिया (पुजारी दंतेवाडा मंदिर). (पुनीत पटेल, साक्षात्कारकर्ता) शोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो.

शंकर सिंह ठाकुर. (29 जून 2021). साक्षात्कार – शंकर सिंह ठाकुर रायगुढ़ी वाद्य वादक. (पुनीत पटेल, साक्षात्कारकर्ता) शोधार्थी द्वारा छायांकित विडियो.

हीरालाल शुक्ल. (1977). *लंका की खोज, दण्डकारण्य की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि.* इलाहाबादः रचना प्रकाशन.

अनुबंधित श्रम का उत्पादन : प्रवासन के कारणों का आलोचनात्मक अध्ययन (1834–1917)

विजय प्रकाश सिंह*

सारांश

ब्रिटिश साम्राज्य में दास प्रथा के उन्मूलन के बाद उन्नीसवीं शताब्दी में अनुबंधित श्रम प्रवास का उदय हुआ। इस व्यवस्था ने भारतीय श्रम गतिशीलता को बढाया। यह शोधपत्र 1834 से 1917 के बीच उत्तर भारत से अनुबंधित प्रवास के कारणों की पड़ताल करता है, और औपनिवेशिक शासन द्वारा निर्मित संरचनात्मक परिस्थितियों पर प्रकाश डालते हुए पारंपरिक व्याख्याओं से आगे बढ़ता है। यह तर्क देता है कि अनुबंधित प्रवास केवल आर्थिक अवसरों के प्रति एक स्वैच्छिक प्रतिक्रिया नहीं थी, बल्कि कृषि संकट, पर्यावरणीय संकट, दमनकारी कानूनी ढाँचे और शोषणकारी भर्ती प्रणालियों द्वारा आकारित एक प्रक्रिया थी। औपनिवेशिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था की अवधारणा का उपयोग करते हुए, यह शोधपत्र इस बात पर प्रकाश डालता है कि कैसे ब्रिटिश नीतियों ने ग्रामीण समाज को रूपांतरित किया। यह अध्ययन दबाव और स्वायत्तता के अंतर्संबंधों का भी विश्लेषण करता है और दर्शाता है कि यद्यपि प्रवासियों ने निर्णय लेने की क्षमता का प्रयोग किया, फिर भी व्यवस्थागत असमानताओं के कारण उनके विकल्प गंभीर रूप से सीमित थे।

बीज शब्द : कृषि संकट, राजनीतिक अर्थव्यवस्था, बंधुआ मजदूरी, दबाव, प्रवास, अकाल

प्रस्तावना

उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में श्रम प्रणाली में एक ऐतिहासिक परिवर्तन देखने को मिलता है। यह परिवर्तन 1833 में ब्रिटिश संसद के द्वारा दास प्रथा को समाप्त किए जाने से उत्पन्न हुआ था। इससे मॉरीशस, फ़िजी , सूरीनाम, गयाना, त्रिनिदाद आदि उपनिवेशों में बागान अर्थव्यवस्थाओं को मजदूरों (श्रम) की भारी कमी का सामना करना पड़ा, जिससे औपनिवेशिक सरकार को सस्ते और नियंत्रित श्रम के वैकल्पिक स्रोतों की तलाश करनी पड़ी (टिंकर, 1974)।[1] इसका परिणाम अनुबंधित श्रम प्रवास का संस्थागतकरण था, जिसके माध्यम से लाखों भारतीयों को निश्चित अवधि के लिए अनुबंधों के तहत विदेशी बागानों में भेजा गया। भारत सबसे बड़ा आपूर्तिकर्ता था, जहाँ ग्रेट ब्रिटेन ने 13 लाख से अधिक अनुबंधित प्रवासियों की भर्ती, परिवहन और विदेशी श्रम स्थितियों की देखरेख की, जिनमें से 9 लाख को एशिया और कैरिबियाई देशों में ब्रिटिश उपनिवेशों में भेजा गया था।[2] 1834 से 1917 के बीच, दस लाख से अधिक भारतीयों ने अनुबंधित श्रमिकों के रूप में प्रवास किया, जिनमें से एक सबसे ज्यादा उत्तरी भारत, विशेष रूप से वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार से था (नॉर्थ्रप, 1995)।[3] इन प्रवासियों को चीनी बागानों और अन्य औपनिवेशिक उद्यमों में काम करने के लिए भर्ती किया गया था। बंधुआ मजदूरी के पारंपरिक स्पष्टीकरण मुख्य रूप से पुश-पुल मॉडल पर आधारित रहे हैं, जो प्रवास को गरीबी, अकाल और विदेशों में अधिक मजदूरी के आकर्षण जैसे कारकों से जोड़ता है। यह नया अनुबंधित श्रम प्रवासन, मूल देशों में बदलती सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तनों, बंधित श्रम प्रवासन के मौजूदा स्वरूपों और साम्राज्यवादी गठजोड़ का परिणाम था, जो इस प्रकार के प्रवासन के लिए भर्ती और परिवहन सहित रसद संबंधी आधार प्रदान करता था। हालांकि यह तथ्य केवल प्रारंभिक दृष्टि प्रदान करता है और प्रवास की जटिलताओं को सरलीकृत कर देता है। यह उन संरचनात्मक शक्तियों की अनदेखी करता है जिन्होंने व्यक्तिगत विकल्पों को भी आकार दिया था।[4] (बेट्स, 1995)

तालिका – 1

1880 तक विभिन्न बागानों में गए भारतीयों की संख्या[5]

कॉलोनी (उपनिवेश)	भारतीय गिरमिटिया की संख्या
मॉरीशस	2,48,000
डेमेरारा	88,000
त्रिनिदाद	51,000

* शोध छात्र, इतिहास विभाग, डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यालय, सागर (म. प्र.)
vijayprakashsingh585@gmail.com

जमैका	11,000
ग्रेनाडा	1,500
सेंट ल्यूशिया	1,000
सेंट किट्स	200
सेंट विसेंट	2,000
नेविस	300
नेटाल	25000
फ़िजी	1400
सेंट क्रोएक्स	87
रीयूनियन	45000
सूरीनाम	4156
ग्वादलूप	13500
कायेन	4300
मार्टिनिका	10000
कुल योग	506433

स्रोत : कुमार, आशुतोष, (2017), पृष्ठ सं. 24-25

1764 ईस्वी के बाद ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकारियों ने बंगाल के व्यापारिक अधिकार पर अपना कब्जा जमाया। इसके बाद कंपनी ने बंगाल के किसानों से कम कीमत पर अग्रिम खरीद की प्रथा को अपनाया इस व्यवस्था ने कई किसानों और बुनकरों को अपना कार्य छोड़ने के लिए विवश किया। इसके अलावा औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप इंग्लैंड के बने सस्ते कपड़ों ने भारतीय बाजारों में क्रांति ला दी थी। जिसके कारण भारत के कुटीर उद्योग तबाह हो गए। काश्तकारी से कृषक बने लोगों को अंग्रेजों के दमनकारी भूराजस्व ने भी देश छोड़कर प्रवासन करने पर मजबूर कर दिया था। औपनिवेशिक उत्तर भारत में कृषि संबंधों के पुनर्गठन ने प्रवासन की परिस्थितियों को उत्पन्न करने में केंद्रीय भूमिका निभाई। बंगाल में स्थायी बंदोबस्त और उत्तर भारत में महालवारी प्रणाली सहित ब्रिटिश भू-राजस्व नीतियों ने किसानों पर कठोर और अत्यधिक कर लगाए (वाशब्रुक, 1999)।[6] बी. बी. चौधरी ने बताया है कि मालगुजारी की मांग 1765-1793 के बीच लगभग दुगुनी हो गयी थीं।[7] (बंद्योपाध्याय,2015) ये कर आमतौर पर कृषि उत्पादकता में उतार-चढ़ाव की परवाह किए बिना निर्धारित किए जाते थे, जिससे ग्रामीण परिवारों पर भारी दबाव पड़ता था। इन नीतियों के दूरगामी दुष्परिणाम हुए। कई किसान राजस्व को चुकाने में असमर्थ रहते थे, जिससे वे कर्ज लेकर पूरा करते थे और इसी क्रम वे साहूकारो और महाजनों के चंगुल में फंस कर अपनी भूमि खो देते थे। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप भूमिहीन मजदूरों का एक वर्ग विकसित हुआ। इस वर्ग में ऋणग्रस्तता धीरे-धीरे बढ़ती ही जाती थी और किसान अपनी आजीविका का निर्वहन करने के लिए और महाजनों पर निर्भर हो गया (बेट्स, 1995)।[8] इस बढ़ती हुई ऋण और भूमिहीन के इस चक्र ने ग्रामीण समुदायों की आर्थिक स्थिरता को कमजोर कर दिया। इसके अलावा, कृषि के व्यवसायीकरण पर औपनिवेशिक दवाब ने सामाजिक अंतर को और बढ़ा दिया। किसानों को नील, कपास और अफीम जैसी नकदी फसलों की खेती करने के लिए प्रोत्साहित किया गया और कभी-कभी मजबूर भी किया गया। वैश्विक बाजारों में इस एकीकरण से भले ही संभावित लाभ मिले, लेकिन इसने किसानों को मूल्य अस्थिरता और बाजार जोखिमों के प्रति भी संवेदनशील बना दिया (वाशब्रुक, 1999)।[9] निर्वाह कृषि से दूर हटने का अर्थ था कि ग्रामीण आबादी तेजी से उन बाहरी कारकों पर निर्भर हो गई जिन पर उनका कोई नियंत्रण नहीं था। फसल खराब होने या कीमतों में गिरावट के विनाशकारी परिणाम हो सकते थे, जिससे परिवार संकट में पड़ जाते थे। इस संदर्भ में, प्रवासन जीवित रहने की एक व्यवहार्य और अक्सर आवश्यक रणनीति के रूप में उभरा। इस प्रकार, औपनिवेशिक शासन के तहत कृषि परिवर्तन ने केवल आर्थिक कठिनाई ही पैदा नहीं की; इसने ग्रामीण समाज की संरचना को मौलिक रूप से बदल दिया, जिससे कमजोर श्रमिकों का एक समूह तैयार हुआ जिन्हें विदेशों में काम के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता था।

उन्नीसवीं शताब्दी के भारत में अकाल एक लगातार और विनाशकारी समस्या थी, विशेषकर शताब्दी के उत्तरार्ध में। 1870 और 1890 के दशक में आए भीषण अकालों ने उत्तरी भारत के बड़े हिस्से को प्रभावित किया, जिसके परिणामस्वरूप व्यापक मृत्यु और सामाजिक उथल-पुथल हुई (नॉर्थ्रप, 1995)।[10] यद्यपि सूखे जैसे पर्यावरणीय कारकों ने भी भूमिका निभाई, विद्वानों ने इस बात पर जोर

दिया है कि अकालों को औपनिवेशिक नीतियों ने काफी हद तक प्रभावित किया। निर्यात-उन्मुख कृषि को प्राथमिकता देने और अपर्याप्त राहत उपायों के कारण अक्सर खाद्य पदार्थों की कमी का प्रभाव और भी बढ़ गया (टिंकर, 1974)।[11] अनाज की कमी के समय में भी उसका निर्यात जारी रहा, जो स्थानीय आवश्यकताओं की कीमत पर भारत के वैश्विक बाजारों में उपस्थिति को दर्शाता है। अकालों का पलायन पर गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने आजीविका को नष्ट कर दिया, बचत को समाप्त कर दिया और गांवों के भीतर पारंपरिक सहायता प्रणालियों को कमजोर कर दिया। ऐसी परिस्थितियों में, व्यक्तियों और परिवारों के लिए जीवन-यापन के पलायन पर विचार करने की संभावना अधिक थी। भर्तीकर्ता अक्सर अकाल प्रभावित क्षेत्रों को निशाना बनाते थे, जहाँ हताशा के कारण लोग आसानी से बहकावे में आ जाते थे। ऐसे अनुबंध जिन्हें अन्यथा अस्वीकार कर दिया जाता, वे भी अत्यधिक संकट की स्थिति में स्वीकार कर लिए जाते थे। परिणामस्वरूप, अकाल के दौरान प्रवास को स्वैच्छिक विकल्प के बजाय संकट के समय मजबूरन किए गए प्रवास के रूप में अधिक समझा जा सकता है। इसके अलावा, अकाल ने सामाजिक संरचनाओं के विघटन में योगदान दिया, जिससे व्यक्तियों को उनके समुदायों से जोड़ने वाले बंधन कमजोर हो गए। इस सामाजिक विस्थापन ने गतिशीलता को सुगम बनाया, जिससे भर्तीकर्ताओं के लिए विदेशी बागानों के लिए श्रम जुटाना आसान हो गया।

भर्ती नेटवर्क और अरकाती की भूमिका

बंधुआ मजदूरों की भर्ती एक जटिल प्रक्रिया थी जिसमें कई मध्यस्थ शामिल थे। इस व्यवस्था के केंद्र में अरकाती या श्रम भर्तीकर्ता थे, जो ग्रामीण क्षेत्रों में संभावित प्रवासियों की पहचान करने और उन्हें भर्ती करने के लिए काम करते थे (लाल, 2000)।[12] हालांकि, अर्काटी के तरीके अक्सर विवादास्पद और शोषणकारी होते थे। कई भर्तीकर्ता प्रवासियों को आकर्षित करने के लिए झूठ और छल का सहारा लेते थे वे अक्सर विदेशों में काम की प्रकृति, मजदूरी और जीवन स्थितियों के बारे में गलत जानकारी देते थे (टिंकर, 1974)।[13] सामान्य भर्ती प्रथाओं में शामिल थे: उच्च मजदूरी और आसान काम का वादा करना बागानों में काम करने की कठोर वास्तविकताओं को छिपाना, निरक्षरता और जागरूकता की कमी का फायदा उठाना कुछ मामलों में, व्यक्तियों को जबरदस्ती या अपहरण भी किया जाता था, हालांकि ऐसी चरम प्रथाएं सार्वभौमिक नहीं थीं। आमतौर पर, भर्ती में निर्णय लेने को प्रभावित करने वाले सूक्ष्म प्रकार के हेरफेर शामिल होते थे। भर्ती प्रक्रिया सामाजिक नेटवर्क पर भी निर्भर थी। प्रवासी अक्सर अपने उन परिचितों या रिश्तेदारों का अनुसरण करते थे जो पहले ही प्रवास कर चुके थे, जिससे प्रवास की ऐसी श्रृंखलाएँ बनती थीं जो व्यवस्था को सुदृढ़ करती थीं (लाल, 2000)।[14] ये नेटवर्क शोषण को बढ़ावा देने के साथ-साथ इस प्रक्रिया को एक हद तक वैधता भी प्रदान करते थे। इस प्रकार, भर्ती केवल एक रसद संबंधी गतिविधि नहीं थी, बल्कि एक महत्वपूर्ण तंत्र था जिसके माध्यम से श्रम गतिशीलता का उत्पादन और नियंत्रण किया जाता था।

कानूनी ढांचा और संस्थागत दबाव

बंधुआ मजदूरी प्रणाली एक कानूनी ढांचे पर आधारित थी जो श्रम अनुबंधों को विनियमित करती थी और अनुशासन लागू करती थी। ये अनुबंध आम तौर पर श्रमिकों को एक निश्चित अवधि, आमतौर पर पांच साल के लिए, एक विशिष्ट नियोक्ता से बांधते थे, जिसमें नवीनीकरण की संभावना होती थी (नॉर्थ्रप, 1995)।[15] हालांकि बंधुआ मजदूरी को एक स्वैच्छिक समझौते के रूप में प्रस्तुत किया गया था, लेकिन इसे नियंत्रित करने वाले कानूनी प्रावधानों ने दबाव के महत्वपूर्ण तत्वों को शामिल किया। जो श्रमिक काम करने से इनकार करके या बागानों को छोड़ने का प्रयास करके अपने अनुबंधों का उल्लंघन करते थे, उन्हें जुर्माना और कारावास सहित दंडात्मक सजाओं का सामना करना पड़ सकता था (टिंकर, 1974)।[16] कानूनी ढांचे की प्रमुख विशेषताओं में शामिल थे: अनुबंध के उल्लंघन का अपराधीकरण, उपनिवेशों के भीतर गतिशीलता पर प्रतिबंध कानूनी निवारण तक सीमित पहुंच, इन प्रावधानों ने प्रभावी रूप से श्रमिकों की स्वतंत्रता को सीमित कर दिया। जिससे उनके लिए शोषणकारी परिस्थितियों से बचना मुश्किल हो गया। कानून श्रम नियंत्रण के एक साधन के रूप में कार्य करता था, जो बागान अर्थव्यवस्थाओं के लिए एक स्थिर और अनुशासित कार्यबल सुनिश्चित करता था। टिंकर ने गिरमिटिया प्रथा को "दासता की एक नई प्रणाली" के रूप में वर्णित किया है। उन्होंने औपचारिक भिन्नताओं के बावजूद दासता और गिरमिटिया प्रथा के बीच की समानताओं पर प्रकाश डाला है (टिंकर, 1974)।[17] यद्यपि गिरमिटिया श्रमिकों को कानूनी रूप से संपत्ति के रूप में स्वामित्व में नहीं रखा जाता था, फिर भी उनकी स्वायत्तता गंभीर रूप से प्रतिबंधित थी। इस प्रकार के कानूनी ढांचे के अस्तित्व ने प्रवासन के निर्णयों को भी प्रभावित किया। एक औपचारिक अनुबंध के वादे ने प्रवासियों को सुरक्षा की भावना प्रदान की होगी, भले ही इसने प्रणाली के दमनकारी पहलुओं को छिपा रखा हो।

बंधुआ मजदूरी के स्वरूप को आकार देने में सामाजिक कारकों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। कई प्रवासी हाशिए पर स्थित समूहों से आए थे, जिनमें निचली जातियाँ, आदिवासी समुदाय और सामाजिक रूप से कमजोर व्यक्ति जैसे विधवाएँ और परित्यक्त महिलाएँ शामिल थीं (लाल, 2000)।[18] जाति-आधारित भेदभाव ने संसाधनों और अवसरों तक पहुँच को सीमित कर दिया, जिससे

हाशिए पर स्थित समूह प्रवास की ओर धकेल दिए गए। कुछ लोगों के लिए, गाँव छोड़ना कठोर सामाजिक पदानुक्रमों और दमनकारी प्रथाओं से बचने का एक अवसर था। पारंपरिक सामाजिक संरचनाओं के टूटने ने प्रवास को और भी सुगम बना दिया। आर्थिक दबावों, पर्यावरणीय संकटों के साथ मिलकर, सामुदायिक बंधनों को कमजोर कर दिया और गाँवों की अपने सदस्यों का भरण-पोषण करने की क्षमता को कम कर दिया। लिंग संबंधी गतिशीलता भी महत्वपूर्ण थी। प्रवासी महिलाओं का अनुपात कम था, लेकिन उन्हें अक्सर विशिष्ट परिस्थितियों में भर्ती किया जाता था। कुछ महिलाओं ने सामाजिक कलंक से बचने के लिए पलायन किया, जबकि अन्य को मजबूर किया गया या धोखा दिया गया (नॉर्थ्रप, 1995)।[19] इस प्रकार, प्रवास न केवल आर्थिक संदर्भ में ही घटित हुआ बल्कि औपनिवेशिक भारत के कठिन सामाजिक प्रथाओं के कारण भी हुआ।

तालिका-2

1872-73 में सभी उपनिवेशों के 17171 प्रवासियों में जातियों की संख्या[20]

जातियां	प्रवासी
ब्राह्मण	2521
कृषक	4974
कारीगर	1537
निचली जातियां	5309
मुसलमान	2910

स्रोत: अरोड़ा, 1991, पृष्ठ 48

बंधुआ मज़दूरी के अध्ययन में बहस इस बात को लेकर है कि प्रवासी किस हद तक स्वायत्तता का प्रयोग करते थे। पहले के विवरणों में अक्सर प्रवासियों को निष्क्रिय पीड़ितों के रूप में चित्रित किया जाता था, जबकि हाल के शोध उनके निर्णय लेने में सक्रिय भूमिका पर ज़ोर देते हैं। हालाँकि, इस स्वायत्तता को संरचनात्मक परिस्थितियों द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों के संदर्भ में समझा जाना चाहिए। "सीमित स्वायत्तता" की अवधारणा इस गतिशीलता को दर्शाती है, यह मानते हुए कि व्यक्ति सीमित विकल्पों के भीतर ही चुनाव करते हैं (बेट्स,1995)।[21] प्रवासियों ने प्रवास के जोखिमों और लाभों का आकलन अक्सर परिवार के सदस्यों या साथियों से परामर्श करके किया। फिर भी ये निर्णय आर्थिक संकट और विकल्पों के अभाव कारकों से प्रभावित थे। इसके अलावा भर्तीकर्ताओं द्वारा दी गई भ्रामक जानकारी, सामाजिक दबाव और सुखी जीवन की संभावना। इस प्रकार, प्रवास न तो पूरी तरह स्वैच्छिक था और न ही पूरी तरह दबावयुक्त। यह एक परस्पर बातचीत के माध्यम से तय की गई प्रक्रिया थी, जो व्यक्तिगत आकांक्षाओं और संरचनात्मक प्रतिबंधों के बीच परस्पर क्रिया को दर्शाती है।

अनुबंधित प्रवास को वैश्विक पूंजीवाद के व्यापक संदर्भ में भी समझा जाना चाहिए। कैरेबियाई, अफ्रीका और प्रशांत क्षेत्र में बागान अर्थव्यवस्थाओं के विस्तार ने सस्ते श्रम की निरंतर मांग पैदा की। दास प्रथा के उन्मूलन के बाद, औपनिवेशिक सरकारों ने दास प्रथा से जुड़े नैतिक और राजनीतिक विवादों से बचते हुए उत्पादन स्तर को बनाए रखने का प्रयास किया। अनुबंधित श्रम ने एक समाधान प्रस्तुत किया, जिससे एक नियंत्रित और अपेक्षाकृत सस्ता श्रमशक्ति उपलब्ध हुआ (नॉर्थ्रप, 1995)।[22] भारत, अपनी विशाल और आर्थिक रूप से कमजोर आबादी के साथ, श्रम का एक प्रमुख स्रोत बन गया। औपनिवेशिक राज्य ने नीतियों और बुनियादी ढांचे के माध्यम से प्रवास को सक्रिय रूप से सुगम बनाया, जिससे भारतीय श्रम वैश्विक आर्थिक नेटवर्क में एकीकृत हो गया। इस प्रकार, प्रवास के कारण केवल भारत तक ही सीमित नहीं थे, बल्कि पूंजी संचय और साम्राज्यवादी विस्तार की वैश्विक प्रक्रियाओं से जुड़े हुए थे।

निष्कर्ष

1830 से 1917 के बीच उत्तरी भारत से अनुबंधित श्रम प्रवास एक जटिल घटना थी जो कई परस्पर संबंधित कारकों से प्रभावित थी। इस शोधपत्र में यह तर्क दिया गया है कि प्रवास को सरल पुश-पुल मॉडल के माध्यम से पर्याप्त रूप से समझाया नहीं जा सकता है, बल्कि इसे औपनिवेशिक राजनीतिक अर्थव्यवस्था के ढांचे के भीतर समझा जाना चाहिए। शोषणकारी भू-राजस्व प्रणालियों और कृषि व्यवसायीकरण के कारण उत्पन्न संकट ने आर्थिक असुरक्षा की स्थिति पैदा कर दी। अकाल और पर्यावरणीय संकटों ने इस असुरक्षा को और भी तीव्र कर दिया, जिससे व्यक्ति जीवित रहने की रणनीति के रूप में प्रवास की ओर अग्रसर हुए। भर्ती नेटवर्क और कानूनी ढांचों ने श्रम की आवाजाही को सुगम और नियंत्रित किया। साथ ही, प्रवासियों ने इन बाधाओं के भीतर अपनी स्वायत्तता का प्रयोग किया, अपनी परिस्थितियों और आकांक्षाओं के आधार पर निर्णय लिए। दबाव और पसंद के बीच इस अंतर्संबंध को समझने से

प्रवास की अधिक सूक्ष्म समझ प्राप्त होती है। अंततः, अनुबंधित प्रणाली श्रम दोहन के एक तंत्र के रूप में कार्य करती थी, जो भारत में स्थानीय बेदखली की प्रक्रियाओं को वैश्विक पूंजीवाद की मांगों से जोड़ती थी। इस व्यवस्था ने मानव गतिशीलता को आकार दिया, जिससे प्रवास के इतिहास में एक स्थायी विरासत छूट गई।

संदर्भ सूची :

1. Tinker, H. (1974).A new system of slavery: The export of Indian labour overseas 1830–1920. Oxford University Press. PP. 12-15
2. Rosemarijin Hoefte. (2017). Indentured labour https://www.researchgate.net/publication/389228993_44_Indentured_Labour DOI: 10.1515/9783110424584-019
3. Northrup, D. (1995). Indentured labour in the age of imperialism, 1834–1922. Cambridge University Press. PP. 56-60
4. Bates, C. (1995). Indentured labour in the British Empire. Oxford University Press. PP. 34-36
5. Kumar, A. (2017), Coolies of the Empire, Indentured Indians in the Sugar Colonies, 1830-1920. Cambridge University press. PP. 24-25
6. Washbrook, D. (1999). India, 1818–1860: The two faces of colonialism. Modern Asian Studies, 33(2), 395–421.
7. Bandyopadhyay, S. (2015). From Plassey to partition and after: A history of modern India (2nd ed.). Orient Blackswan. P.83
8. Bates, C. (1995). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 88-92
9. Washbrook, D. (1999). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 395-421
10. Northrup, D. (1995).पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 120-125
11. Tinker, H. (1974). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 203-210
12. Lal, B. V. (2000). Chalo Jahaji: On a journey through indenture in Fiji. ANU Press. PP. 45-50
13. Tinker, H. (1974). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 178-182
14. Lal, B. V. (2000). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 45-50
15. Northrup, D. (1995).पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 140-145
16. Tinker, H. (1974). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 150-155
17. वहीं. पृष्ठ सं. 150-155
18. Lal, B. V. (2000). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 72-78
19. Northrup, D. (1995).पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 165-170
20. Arora, G.S. (1991). Indian Migration, Puja Publication , New Delhi . PP 48
21. Bates, C. (1995). पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 120-125
22. Northrup, D. (1995).पूर्वोक्त. पृष्ठ सं. 10-15

मधुमेह रोगियों पर सामाजिक सहयोग का प्रभाव : एक समीक्षा

विकास कुमार*
डॉ. रवि रंजन**

सारांश

प्रस्तुत आलेख में मधुमेह रोगियों पर पड़ने वाले सामाजिक सहयोग के प्रभाव का समीक्षात्मक अध्ययन किया गया कि उसके स्वास्थ्य पर सामाजिक सहयोग का कितना प्रभाव पड़ता है। इन सभी चीजों को जानने से पहले मधुमेह और सामाजिक सहयोग को समझ लेते हैं, तो पता चलता है कि - मधुमेह चायापचय संबंधी एक दीर्घकालिक बीमारी है। हम जो भी खाना खाते हैं, वह अंदर जाकर टूटता है और उसमे मौजूद ग्लूकोज यानी शुगर निकलना शुरू होता है। दूसरी तरफ अग्नाशय इंसुलीन नामक हार्मोन छोड़ता है। इंसुलीन के कारण ग्लूकोज ब्लड के माध्यम से पूरे शरीर मे जाता है और ऊर्जा का संचार होता है। यह सब इंसुलीन के बिना संभव नहीं हो सकता है। इसके विपरीत जब अग्नाशय से इंसुलीन निकलना बंद हो जाता है या कम हो जाता है, तो ग्लूकोज ब्लड कोशिकाओं तक नहीं पहुँच पता है, यह ब्लड मे ही इकट्ठा होने लगता है, जिस कारण ब्लड मे ग्लूकोज यानी शुगर लेवल बढ़ने लगता है। इसी स्थिति को मधुमेह या शुगर या डायबिटीज कहा जाता है। यह मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है- पहला - टाइप 1 डायबिटीज, जो आनुवंशिक होता है और दूसरा - टाइप 2 डायबिटीज, जो गलत जीवन शैली, खान - पान और शारीरिक गतिविधि नहीं रहने के कारण होती है। मधुमेह यदि एक बार हो जाता है तो यह जीवन भर चलते रहती है। इस बीमारी के कारण उसे उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, स्ट्रोक, किडनी की विफलता, अल्सर, आँखों की समस्या आदि का सामना करना पड़ता है। द लैसेट जर्नल मे प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार भारत मे 101 मिलियन यानी 10.1 करोड़ लोग मधुमेह से ग्रसित है। अब हम सामाजिक सहयोग को समझते हैं तो पता चलता है कि - सामाजिक सहयोग एक प्रकार का साधन है, जिसके माध्यम से मनुष्य एक - दूसरे को सहायता प्रदान करते हैं। यह सहायता कई स्त्रोतों से मिल सकती है - जैसे - परिवार, दोस्त, पड़ोसी, सहकर्मी, पालतू जानवर, संगठन आदि। अब यदि मधुमेह रोगियों पर सामाजिक सहयोग के प्रभाव को जाने तो पता चलता है कि सामाजिक सहयोग का मधुमेह रोगियों के स्वास्थ्य पर बहुत ही अच्छा और सकारात्मक प्रभाव पड़ता है। निष्कर्ष के तौर पर यदि कहें तो जिस मधुमेह रोगी को सामाजिक सहयोग ज्यादा मिलता है, उसका शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य अपेक्षाकृत अधिक बेहतर और स्वस्थ होता है।

मधुमेह चयापचय संबंधी एक ऐसी बीमारी है, जो यदि किसी व्यक्ति को एक बार हो जाय, तो यह जीवन भर उसके साथ बनी रहती है। वह जीवन भर इस मधुमेह बीमारी से मुक्त नहीं हो सकता है। हाँ, ये बात अलग है कि उसके शुगर का लेवल कभी अधिक, तो कभी सामान्य के आस-पास रहता है। मान लीजिए कि किसी मधुमेह रोगी का शुगर लेवल सामान्य लेवल के आस-पास है, इस बीच यदि वह व्यक्ति कुछ भी मीठी चीज, चाहे मिठाई हो, मीठा फल हो या फिर चाय की क्यों ना हो, खा-पी ले, तो फिर उसका शुगर लेवल अचानक से सामान्य से बहुत अधिक हो जाता है। अब जब बार-बार शुगर और शुगर लेवल की चर्चा हो रही है तो उसको भी अच्छे से समझ लेते हैं, तो पता चलता है कि -

* Research Scholar, Department of Psychology, Patliputra University, Patna
**Dr. Ravi Ranjan, Assistant Professor, College of Commerce, Arts & Science, Patliputra University, Patna

हमलोग जब खाना खातें हैं, तो हमारे शरीर के भीतर जाकर टूटता है और उसमे मौजूद ग्लूकोज यानी शुगर निकलता है। इसी बीच अग्नाशय से इंसुलीन नामक हार्मोन निकलता है, जो इस ग्लूकोज को ब्लड के माध्यम से पूरे शरीर की कोशिकाओं तक पहुँचाता है, जिससे ऊर्जा का संचार होता है। यदि किसी व्यक्ति मे अग्नाशय से यही इंसुलीन निकलना बंद हो जाता है, या इंसुलीन निकलना कम हो जाता है, तो यह ग्लूकोज ब्लड से माध्यम से पूरे शरीर की कोशिकाओं तक नहीं पहुँच पता है, बल्कि यह ग्लूकोज ब्लड मे ही जमा होने लगता है, जिससे ब्लड मे ग्लूकोज यानी शुगर लेवल धीरे-धीरे बढ़ने लगता है। ब्लड मे बढ़ी हुई शुगर लेवल की इसी स्थिति को मधुमेह या डायबिटीज कहा जाता है। बोलचाल की भाषा मे इसे ही शुगर या चीनी बीमारी भी कहा जाता है। द लैंसेट डायबिटीज एण्ड एंडोक्रिनोलॉजी जर्नल मे प्रकाशित एक रिपोर्ट के अनुसार वर्तमान मे भारत मे मधुमेह से ग्रसित लोगों की संख्या 101 मिलियन है और 136 मिलियन लोग प्री-डायबिटीज की श्रेणी मे आ चुकें हैं।(RM Anjana, M Deepa, R Pradeepa, et al. 2017). प्री-डायबिटीज ऐसी स्थिति को कहा जाता है, जिसमे व्यक्ति का शुगर स्तर सामान्य से थोड़ा अधिक बना रहता है। इस प्रकार के लोगों मे भविष्य मे मधुमेह से ग्रसित होने की संभावना ज्यादा रहती है।

अब जब बार-बार शुगर लेवल की बात हो रही है तो सबसे पहले इसे ही अच्छी तरह से समझ लेते हैं कि हमारे ब्लड मे शुगर की कितनी मात्रा होनी चाहिए, तो पता चलता है कि - जब व्यक्ति खाली पेट हो अर्थात पिछली रात के बाद से कुछ न खाया हो या कम से कम 8 घंटे से ना खाया हो, तब उस स्थिति में उसके ब्लड के शुगर लेवल से निम्न स्थिति का पता लगाया जाता है -

- सामान्य लेवल- (60-100) mg/dl या 5.6 mmol/l से कम
- प्री-डायबिटीज लेवल- (100-125) mg/dl या (5.6 - 6.9) mmol/l के बीच
- डायबिटीज लेवल- 126 mg/dl या 7.0mmol/l से अधिक

मधुमेह के निदान और वर्गीकरण को परिभाषित करते हुए एक मध्यवर्ती समूह को मान्यता दिया गया ,जो सामान्य माने जाने वाले शुगर स्तरों से अधिक है, लेकिन अभी तक पूर्ण रूपेण मधुमेह के दुष्प्रभावों से ग्रसित नहीं हुए हैं। इस मध्यवर्ती समूह को प्री-डायबिटीज की श्रेणी में रखा गया है।(Expert Committee Report 1997 & 2003)। जिसे भविष्य मे मधुमेह से ग्रसित होने की अधिकांश संभावना बताया गया।(International Expert Committee Report 2009)। A1c (HbA1c) प्रयोगशाला परीक्षण, जिसमे विगत तीन माह का शुगर लेवल का औसत मापा जाता है, के उपयोग की अनुशंसा करते हुए अंतर्राष्ट्रीय विशेषज्ञ समिति (2009) ने इस परीक्षण का सामान्य लेवल 6.5 mmol/l से कम रखा। साथ ही बहुत सारे शोध विशेषज्ञों ने A1c के नैदानिक मानदंड को माना और कहा कि- यदि किसी का शुगर लेवल A1c मानदंड से अधिक हो रहा है, तो उसमें मधुमेह होने का खतरा अधिक है।(D. Edeman, MK Olsen, et al. 2004)। HbA1c का स्तर काफी बढ़ जाने से हृदय संबंधी रोग होने का खतरा भी बढ़ जाता है।(AD Pradhan, N Rifai, et al. 2007)। कंसाई हेल्थकेयर अध्ययन के अनुसार में 40-55 वर्ष की आयु के 6736 गैर-मधुमेह जापानी पुरुष पर उपवास मे HbA1c परीक्षण लगातार 4 वर्षों तक करने के बाद यह निष्कर्ष पाया कि HbA1c का माप टाइप 2 मधुमेह की भविष्यवाणी के लिए प्रभावी था। (KK Sato, T Hayashi, et al. 2009).

मधुमेह के कारण - मुख्य रूप से बात करें तो अग्नाशय से इंसुलीन का नहीं निकलना या कम निकलना ही मधुमेह का कारण है। ऐसे कई कारण है जिससे इंसुलीन के निकलने की क्रिया प्रभावित होती है। जैसे -

अग्नाशय के रोग का होना - यदि किसी प्रक्रिया द्वारा अग्नाशय घायल होती है, तो यह मधुमेह होने का कारण बन सकता है। यदि प्रक्रियाओं की बात करें तो अग्नाशय शोथ, आघात, संक्रमण, अग्नाशय उच्छेदन तथा कार्सिनोमा जैसी प्रक्रिया अग्नाशय को क्षति पहुँचाती है, जो मधुमेह का कारण बन सकती है।

अंतः स्त्राविका विकृति - ऐसे कई हार्मोन है, जो इंसुलीन क्रिया का विरोध करते है। जैसे - ग्रोथ हार्मोन, कोर्टिसोल हार्मोन, ग्लूकागन हार्मोन, एपिनेफ्रीन हार्मोन। यदि किसी व्यक्ति के स्त्राव में पहले से थोड़ी भी दिक्कत हो, तो ऐसे लोगों में इस हार्मोन की मात्रा अधिक होना भी मधुमेह का कारण बनती है।

दवा या रसायन से प्रेरित मधुमेह - यदि किसी व्यक्ति में इंसुलीन प्रतिरोध दोष हो, तो कई ऐसी दवाएं हैं, जो इंसुलीन स्त्राव को और भी खराब कर देती है। जैसे - निकोटिन एसिड और ग्लूकोकॉर्टिकोइड्स।

इसके साथ-साथ और भी कई क्रियाएं है जो मधुमेह का कारण बनती है -

- संतुलित आहार का सेवन ना करना
- समय से सोने और जागने की आदत ना होना
- एक्सरसाइज ना करने की आदत
- मोटापा का हो जाना
- हाई ब्लड-प्रेशर का होना
- कोलेस्ट्रॉल लेवल का बढ़ जाना
- शारीरिक निष्क्रियता का होना
- तनाव या डिप्रेशन का ज्यादा होना
- परिवार के सदस्यों में किसी को पहले से ही डायबिटीज होना।

मधुमेह के लक्षण -

- बार-बार पेशाब लगना
- अकारण थकावट महसूस होना
- सांस लेने में दिक्कत होना
- भूख और प्यास बहुत ज्यादा लगना
- आँखों से साफ-साफ दिखाई ना पड़ना
- अनायास ही वजन ज्यादा या कम होना
- घाव ठीक होने मे अधिक समय लगना
- त्वचा रोग का होना
- कमजोरी लगते रहना
- हाथ व पैरों मे सुन्नता या झुंझुनाहट का होना
- जी मिचलाना या मन उल्टी जैसा करना
- पेट दर्द करते रहना या गैस अधिक बनना, आदि

मधुमेह के प्रकार - मधुमेह मुख्य रूप से दो प्रकार का होता है -

टाइप 1 डायबिटीज - इस प्रकार के डायबिटीज को इंसुलीन आश्रित डायबिटीज भी कहा जाता है, क्योंकि ऐसे मधुमेह रोगी में इंसुलीन बिल्कुल ही नहीं बनता है। कारण यह है कि इसमे रोगी के शरीर की कोशिका खुद की ही दूसरी कोशिकाओं के साथ दुश्मन की तरह बर्ताव करती है, जिससे इंसुलीन बिल्कुल ही नहीं बन पाता है, इस कारण ऐसे रोगी को बीच-बीच मे इंसुलीन इन्जेक्शन की आवश्यकता होती है। इस प्रकार के डायबिटीज को आनुवंशिक डायबिटीज भी कहा जाता है, क्योंकि इस प्रकार की डायबिटीज तभी होती है, जब उसके माता-पिता, दादा-दादी, नाना-नानी या परिवार के किसी सदस्यों को पहले से ही डायबिटीज हो।

टाइप 2 डायबिटीज - टाइप 2 डायबिटीज तब होती है जब हमारे शरीर की कोशिकाएँ इंसुलीन के प्रति प्रभावी ढंग से प्रतिक्रिया नहीं करता है और वह इंसुलीन का सही तरह से इस्तेमाल नहीं कर पाता है। पहले यह आम तौर पर 45 वर्ष की उम्र के बाद देखा जाता था, पर अब यह बच्चों में भी देखा जाने लगा है। इस प्रकार की

डायबिटीज गलत खान-पान, असमय सोने और जगने की आदत, शारीरिक गतिविधि जैसे कार्यों का बहुत कम करना, तेलीय व वसीय पदार्थों का ज्यादा सेवन करना, मोटापा, हाई कोलेस्ट्रॉल लेवल आदि के कारण होती है। इस प्रकार के रोगी को जरूरत पड़ने पर ही इंसुलीन दी जाती है, नहीं तो इनका इलाज दवाई से ही किया जाता है।

इन दो प्रकारों के अलावा एक और डायबिटीज होती है, जिसे डायबिटीज का प्रकार नहीं माना गया है-

गर्भावस्थाजन्य मधुमेह - यह केवल गर्भावस्था के दौरान ही देखने को मिलती है और बच्चे के जन्म के बाद आम तौर पर यह ठीक हो जाती है। इस तरह का मधुमेह केवल 2-10% महिलाओं में ही देखने को मिलता है। ऐसी महिलाओं में भविष्य मे टाइप 2 मधुमेह होने का खतरा बना रहता है। साथ ही हृदय रोग होने की संभावना भी ज्यादा रहती है।

अब हम यह समझ लेते हैं कि मधुमेह से ग्रसित होने पर किसी भी रोगी में क्या- क्या दिक्कत का सामना करना पड़ सकता है -

उत्पन्न समस्याएँ -

आँख संबंधी समस्याएँ - ब्लड में शुगर लेवल अधिक होने के कारण के कारण रेटिना के रक्त वाहिकाओं पर असर पड़ता है, जिससे धुंधली दृष्टि या अंधापन जैसी समस्या हो सकती है।

किडनी से जुड़ी समयस्याएँ - डायबिटीज किडनी के कार्य प्रणाली को भी बाधित कर देती है, जिससे किडनी खराब हो सकती है। ऐसी स्थिति में उसे डायलिसिस या किडनी ट्रांसप्लांट की जरूरत पड़ सकती है।

दिल से जुड़ी परेशानी - शुगर लेवल अधिक होने पर हृदय संबंधी परेशानी जैसे- कोरोनरी धमनी की बीमारी, धमनी का संकुचित हो जाना, हाई ब्लड-प्रेसर, दिल का दौरा, स्ट्रोक, सांस फूलना, धड़कन अचानक बढ़ जाना आदि समस्याएँ उत्पन्न होने लगती है।

तांत्रिका तंत्र संबंधी समस्याएँ - किसी व्यक्ति में लंबे समय तक मधुमेह रहने के कारण यह कोशिकाओं की दीवारों को नुकसान पहुँचता है, जिसके कारण तांत्रिका में सुन्नता, तेज दर्द, हाथ व पैरों मे सूजन, सर दर्द, छाती दर्द आदि समस्याएँ होने लगती है।

त्वचा संबंधी समस्याएँ - शुगर लेवल अधिक बने रहने के कारण उसमें बैक्टीरियल और फंगल संक्रमण भी हो सकता है। यहाँ तक कि यदि मधुमेह रोगी को छोटी-मोटी घाव भी हो जाय या स्किन थोड़ी सी कट भी जाय, तो उसे ठीक होने मे काफी समय लग जाता है।

मस्तिष्क विकार की समस्या - लंबे समय से मधुमेह रहने के कारण अल्जाइमर रोग जैसे मस्तिष्क विकार होने की संभावना बनी रहती है। अल्जाइमर रोग मस्तिष्क के उस हिस्से मे शुरू होती है, जो सीखने की क्रिया को प्रभावित करती है और यह आम तौर पर 60 वर्ष की आयु या इससे अधिक उम्र वाले लोगों को ही होती है। यह बीमारी मुख्य रूप से रोगी के स्मृति, सोच और व्यवहार को प्रभावित करता है।

पेट से जुड़ी समस्याएँ - शुगर लेवल के अधिक होने के कारण रोगी की पाचन क्रिया खराब होने लगती है, जिससे उसे शौच संबंधी दिक्कत आनी शुरू हो जाती है। साथ ही पेट मे दर्द, जलन और गैस का अधिक बनना जैसी दिक्कत के अलावा मन पच-पच करना या मन उल्टी जैसा करना आदि समस्याएँ भी होने लगती लगती है।

सामाजिक सहयोग का परिचय -

सामाजिक सहयोग से तात्पर्य ऐसे सहयोग से है, जो समाज के लोगों के द्वारा एक विशेष लक्ष्य की प्राप्ति के लिया किया जाता है। सामाजिक सहयोग में सहयोगकर्ता के रूप में केवल समाज के लोगों को ही शामिल नहीं किया जाता है, बल्कि परिवार के सदस्यों को भी शामिल किया जाता है। यह सहयोग कई श्रोतों से प्राप्त होती है, जैसे परिवार, दोस्त, पड़ोसी, सहकर्मी, पालतू जानवर, संगठन आदि और इस तरह हम कह

सकते हैं कि सामाजिक सहयोग प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करते हुए खुद को अच्छी तरह से ढ़ालने की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करता है। (SM Southwick, M. Vythilingam, et al. 2005). सामाजिक सहयोग को शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य दोनों के लिए लाभदायक माना गया है, परंतु ये जरूरी नहीं है कि वह सहयोग हमेशा फायदेमंद ही हो, जैसे- दोस्तों से गपशप करना, दोस्तों के साथ घूमते रहना आदि। कोई भी व्यक्ति जब किसी मुसीबत या संकट से गुजर रहा हो तो उससे निपटने में यह सामाजिक सहयोग उसके लिए वरदान की तरह काम करती है।

सामाजिक सहयोग मुख्यतः चार तरह से प्राप्त होते हैं - (B. Uchino 2004)

भावनात्मक सहयोग - जब कोई भी आदमी चिंता, आत्म सम्मान की हानी, हताशा, दवाब, और तनाव जैसी स्थिति का अनुभव करता है तो उसके परिवार के लोग और दोस्त यार उसको आश्वासन देकर भावनात्मक सहयोग प्रदान करते हैं और उसको समझाया जाता है कि उसको प्यार किया जाता है, महत्व दिया जाता है और उसकी देखभाल की जाती है। इस प्रकार भावनात्मक सहयोग चिंता, सहानुभूति, स्नेह, प्रेम, विश्वास, स्वीकृति, प्रोत्साहन या देखभाल की पेशकश है।

मूर्त सहयोग - इसमें व्यक्ति दूसरे को वितीय सहायता यानी धन, भौतिक वस्तु यानी कोई सामान, सेवा आदि के माध्यम से सहयोग प्रदान करता है। यह सहयोग सबसे ठोस और प्रत्यक्ष सहयोग के रूप में माना गया है।

साथी सहयोग - इस प्रकार का सहयोग सामाजिक जुड़ाव की भावना को देता है। इस सहयोग मे साथियों की उपस्थिति को स्पष्ट रूप से देखा गया है।

सूचनात्मक सहयोग - इस प्रकार का सहयोग में किसी को सलाह, मार्गदर्शन, सुझाव या उपयोगी जानकारी देकर उसकी सहायता करने से संबंधित है। पहले यह सहयोग केवल परिवार और दोस्तों के माध्यम से ही प्राप्त होती थी, पर अब इस प्रकार का सहयोग ऑनलाइन या सोशल मीडिया साइटों के द्वारा भी प्राप्त की जाती है। इस प्रकार के सहयोग से एक फायदा यह है कि - जिस भी समस्याओं के बारे में दूसरे लोगों से जानकारी लेने में संकोच होता है या शर्म के मारे नहीं पूछा जा सकता है, ऐसी स्थिति में यह बड़े काम का सहयोग माध्यम है।

मधुमेह और सामाजिक सहयोग के बीच संबंध - मधुमेह और सामाजिक सहयोग के बीच बहुत ही गहरा संबंध है, क्योंकि सामाजिक सहयोग के कम या ज्यादा मिलने पर मधुमेह रोगियों का मानसिक स्वास्थ्य प्रभावित होता है। एक अध्ययन में यह पाया गया कि जिन बुजुर्गों के रिश्ते ऐसे जगह थे, जहाँ उनका मान-सम्मान होता था, उनको किसी भी काम में सहयोग मिलता था, ऐसे बुजुर्गों के स्वास्थ्य में गिरावट की संभावना बहुत ही कम थी। (Culrona, Carolyn, et al. 1986). तनावपूर्ण समय में, सामाजिक सहयोग लोगों को मनोवैज्ञानिक परेशानी जैसे- चिंता या अवसाद आदि को कम करने मे मदद करता है।(S.E. Taylor 2011). कम सामाजिक सहयोग प्राप्त करने वाले लोगों में, अधिक सामाजिक सहयोग प्राप्त करने वाले लोगों की तुलना में मानसिक विकार की दर अधिक होती है। इनमें पैनिक डिसऑर्डर, सोशल फोबिया, मेजर डिप्रेसिव डिसऑर्डर, डिस्टीमिक डिसऑर्डर (अवसादग्रस्तता) आदि विकार शामिल हैं। साथ ही सामाजिक सहयोग कम प्राप्त करने वाले लोगों में आत्महत्या के विचार अधिक होते हैं और यह लोग शराब और अन्य मादक पदार्थों का सेवन जल्दी कर लेते हैं। कम सामाजिक सहयोग प्राप्त करने वाले लोगों में अधिक हृदय रोग, अधिक सूजन और कम प्रभावी प्रतिरक्षा प्रणाली, गर्भावस्था के दौरान अधिक समस्याएं, गठिया से जुड़ी अधिक अक्षमताएं और दर्द आदि आदि समस्याएं अधिक होती है। इसके विपरीत सामाजिक सहयोग का उच्च दर कई सकारात्मक परिणामों से जुड़ी हुई है जिसमें बेहतर शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य, दाद रोग के लिए कम संवेदनशील, उम्र में गिरावट कम दिखने की संभावना और मधुमेह नियंत्रण शामिल है।(T.M. Marteau, J.D. Baum 1987).

निष्कर्ष (Conclusion) - मधुमेह के रोगी को बीमारी से निपटने और उपचार के पालन में सुधार करने के लिए सामाजिक सहयोग को महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए और मधुमेह रोगी के लिए उपचार योजना के एक हिस्से के

रूप मे परिवार को शामिल किया जाना चाहिए। परिवार के सदस्यों, विशेष रूप से जीवनसाथी को स्व-देखभाल व्यवहार मे शामिल करना मधुमेह के रोगियों को स्वास्थ्य देखभाल प्रदान करने मे महत्वपूर्ण महत्व रखता है क्योंकि यह मधुमेह रोगी के ब्लड ग्लूकोज के स्तर और HbA1c को नियंत्रित करने मे भी सकारात्मक प्रभाव दे सकता है। पारिवारिक सहयोग रोगी को उच्चतम गुणवत्ता और स्वास्थ्य प्राप्त करने मे मदद कर सकता है। मधुमेह रोगी के स्वास्थ्य पर सामाजिक सहयोग या पारिवारिक सहयोग का सकारात्मक प्रभाव पड़ सकता है। भविष्य में स्वास्थ्य सेवा और हस्तक्षेप कार्यक्रमों में सामाजिक सहयोग को सुदृढ़ करने पर विशेष ध्यान देना चाहिए। साथ ही इस क्षेत्र में अधिक व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है, ताकि मधुमेह रोगियों के समग्र स्वास्थ्य और जीवन शैली को बेहतर बनाया जा सके।

संदर्भ (References) -

- Anjana, RM . Deepa, M . Pradeepa, R . et al. 2017. Prevalence of diabetes and prediabetes in 15 states of India: results from the ICMR-INDIAB population-based cross-sectional study. *The Lancet Diabetes and Endocrinol*. 2017; 5:585-59.
- Cutrona, Carolyn; Russell, Dan; Rose, Jayne (1986). "Social support and adaptation to stress by the elderly". *Psychology and Aging.* 1 (1): 47–54.
- Edelman D, Olsen MK, Dudley TK, Harris AC, Oddone EZ: Utility of hemoglobin A1c in Predicting diabetes risk. *J Gen Intern Med* . 2004; 19: 1178- 1180.
- Genuth S, Alberti KG, Bennett P, Buse J, Defronzo R, Kahn R, Kitzmiller J, Knowler WC, Lebovitz H, Lernmark A, Nathan D, Palmer J, Rizza R, Saudek C, Shaw J, Steffes M, Stern M, Tuomilehto J, Zimmet P: Expert Committee on the Diagnosis and Classification of Diabetes Mellitus2, the Expert Committee on the Diagnosis and Classification of Diabetes Mellitus. Follow-up report on the diagnosis of diabetes mellitus. *Diabetes Care* 2003; 26: 3160– 3167.
- International Expert Committee Report on the role of the A1c assay in the diagnosis of diabetes. *Diabetes Care* 2009; 32: 1327- 1334.
- Marteau, T.M.; Bloc, S.; Baum, J.D. (1987). "Family life and diabetic control". *Journal of Child Psychology and Psychiatry.* 28 (6): 823–833.
- Pradhan AD, Rifai N, Buring JE, Ridker PM: Hemoglobin A1c predicts diabetes but not cardiovascular disease in nondiabetic women. *Am J Med* 2007; 120: 720– 727.
- Report of the Expert Committee on the Diagnosis and Classification of Diabetes Mellitus. *Diabetes Care* 1997 ;20: 1183- 1197
- Sato KK, Hayashi T, Harita N, Yoneda T, Nakamura Y, Endo G, Kambe H: Combined measurement of fasting plasma glucose and A1C is effective for the prediction of type 2 diabetes: the Kansai Healthcare Study. *Diabetes Care* 2009; 32: 644– 646.
- Southwick SM, Vythilingam M, Charney DS. The psychobiology of depression and resilience to stress: Implications for prevention and treatment. *Annu Rev Clin Psychol.* 2005;1:255–91.
- Taylor, S.E. (2011). "Social support: A Review". In M.S. Friedman (ed.). *The Handbook of Health Psychology.* New York, NY: Oxford University Press. pp. 189–214.
- Uchino, B. (2004). *Social Support and Physical Health: Understanding the Health Consequences of Relationships*. New Haven, CT: Yale University Press. pp. 16–17.

पर्यावरण संरक्षण में विद्यार्थियों का योगदान

डॉ. सुमन कुमारी*

शोध सार -

प्रस्तुत शोध पत्र "**पर्यावरण संरक्षण में विद्यार्थियों का योगदान" है ।** धरती पर हम जिस परिवेश में रहते हों उसे पर्यावरण कहते हैं जो हमारे जीवन का अनिवार्य हिस्सा है और हमें जीवन जीने के लिए आवश्यक संसाधन प्रदान करता है, जैसे कि स्वच्छ हवा, पानी, भोजन और आश्रय। धरती पर एक स्वच्छ पर्यावरण का महत्व इतना अधिक है कि इसके बिना हम जीवन की कल्पना भी नहीं कर सकते। लेकिन आज के आधुनिक युग में हम मनुष्यों ने अपने स्वार्थ और विकास की दौड़ में पर्यावरण को काफी हद तक दूषित कर दिया है। पर्यावरण संरक्षण आज की सबसे बड़ी वैश्विक चुनौतियों में से एक है। प्रदूषण, वनों की कटाई, जलवायु परिवर्तन और प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन मानव जीवन के लिए गंभीर संकट उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसे समय में विद्यार्थियों की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। विद्यार्थी समाज का वह वर्ग हैं जो न केवल शिक्षा प्राप्त करते हैं बल्कि समाज में जागरूकता फैलाने की क्षमता भी रखते हैं। वे वृक्षारोपण, प्लास्टिक मुक्त अभियान, जल संरक्षण, ऊर्जा बचत और स्वच्छता जैसे कार्यों में सक्रिय भागीदारी कर सकते हैं। विद्यालयों और महाविद्यालयों में पर्यावरण क्लब, निबंध प्रतियोगिता, रैली और जनजागरूकता कार्यक्रमों के माध्यम से विद्यार्थी समाज को प्रेरित कर सकते हैं। डिजिटल माध्यमों का उपयोग कर वे पर्यावरणीय मुद्दों पर जानकारी साझा कर सकते हैं और जनमानस को जोड़ सकते हैं। इस प्रकार विद्यार्थियों का योगदान केवल शैक्षणिक स्तर तक सीमित नहीं है, बल्कि सामाजिक और राष्ट्रीय स्तर पर भी प्रभावी है। यदि विद्यार्थी अपने जीवन में पर्यावरणीय मूल्यों को अपनाएँ और दूसरों को प्रेरित करें तो आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित और संतुलित पर्यावरण सुनिश्चित किया जा सकता है।

मुख्य शब्द - पर्यावरण संरक्षण**,** विद्यार्थी योगदान**,** जनजागरूकता**,** वृक्षारोपण**,** ऊर्जा बचत**,** सतत विकास आदि।

उद्देश्य

विद्यार्थियों के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण की दिशा में ठोस कदम उठाना और समाज में जागरूकता फैलाना।

उपकल्पना

यदि विद्यार्थी सक्रिय रूप से पर्यावरण संरक्षण गतिविधियों में भाग लें तो समाज में पर्यावरणीय जागरूकता और व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन संभव है

शोध सारांश, पर्यावरणीय संकट की वर्तमान स्थिति, विद्यार्थियों की सामाजिक जिम्मेदारी विद्यालय/महाविद्यालय स्तर पर गतिविधियाँ, डिजिटल माध्यम और पर्यावरण शिक्षा, सामुदायिक भागीदारी और नेतृत्व, भविष्य की संभावनाएँ और चुनौतियाँ अधिक है । विद्यार्थी को समाज के परिवर्तनकारी एजेंट मन जाता हैं। उनके प्रयासों से पर्यावरण संरक्षण को जनआंदोलन का रूप दिया जा सकता है। शिक्षा और जागरूकता के माध्यम से वे आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित पर्यावरण सुनिश्चित कर सकते हैं।(1)

आधुनिक परिवर्तन, वनों की कटाई और जैव विविधता का ह्रास मानव अस्तित्व के लिए गंभीर खतरा बन चुका है। ऐसे में विद्यार्थियों का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है क्योंकि वे समाज का वह वर्ग हैं जो शिक्षा

* समाजशास्त्र विभाग, मगध विश्वविद्यालय, बोधगया

sumankumari09488@gmail.com, Mob No.9534646661

पर्यावरण संरक्षण आज के समय की सबसे बड़ी आवश्यकता है। औद्योगिकीकरण, शहरीकरण और आधुनिक जीवनशैली ने प्राकृतिक संसाधनों पर अत्यधिक दबाव डाला है। प्रदूषण, अनुकूल जलवायु प्राप्त करने के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन के वाहक भी होते हैं।(2)

पर्यावरणीय संकट की वर्तमान स्थिति

आज विश्व भर में पर्यावरणीय संकट गहराता जा रहा है। वायु प्रदूषण से श्वसन रोग बढ़ रहे हैं, जल प्रदूषण से पेयजल संकट उत्पन्न हो रहा है, और भूमि प्रदूषण से कृषि उत्पादन प्रभावित हो रहा है। जलवायु परिवर्तन के कारण असामान्य वर्षा, सूखा और बाढ़ जैसी प्राकृतिक आपदाएँ बढ़ रही हैं। इन परिस्थितियों में पर्यावरण संरक्षण केवल सरकारों या संस्थाओं की जिम्मेदारी नहीं है, बल्कि प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। विद्यार्थियों को इस दिशा में विशेष भूमिका निभानी चाहिए क्योंकि वे भविष्य के नागरिक और नीति-निर्माता हैं।(3)

विद्यार्थियों की सामाजिक जिम्मेदारी

विद्यार्थी समाज में जागरूकता फैलाने की क्षमता रखते हैं। वे अपने विद्यालय, महाविद्यालय और समुदाय में पर्यावरणीय मुद्दों पर चर्चा कर सकते हैं। उनके द्वारा आयोजित रैली, निबंध प्रतियोगिता, वाद-विवाद और सांस्कृतिक कार्यक्रम समाज को प्रेरित कर सकते हैं। विद्यार्थी अपने व्यवहार में भी पर्यावरणीय मूल्यों को अपनाकर उदाहरण प्रस्तुत कर सकते हैं, जैसे—प्लास्टिक का कम उपयोग, जल और ऊर्जा की बचत, तथा वृक्षारोपण।

विद्यालय/महाविद्यालय स्तर पर गतिविधियाँ

विद्यालयों और महाविद्यालयों में पर्यावरण क्लब स्थापित किए जा रहे हैं। इन क्लबों के माध्यम से विद्यार्थी वृक्षारोपण अभियान चलारहे हैं, परिसर को स्वच्छ रखने और 'ग्रीन कैंपस' की अवधारणा को साकार करने में आगे आ रहे हैं। विज्ञान मेले और प्रदर्शनी में पर्यावरणीय मॉडल प्रस्तुत कर वे समाज को जागरूक कर रहे हैं। इसके अलावा, 'नो व्हीकल डे', 'एनर्जी सेविंग डे' और 'वॉटर कंज़र्वेशन वीक' जैसे कार्यक्रम विद्यार्थियों को सक्रिय भागीदारी का अवसर देते हैं। इन जागरूकता अभियान से बदलाव भी देखने को मील रहा है (4)

डिजिटल माध्यम और पर्यावरण शिक्षा

आज की पीढ़ी तकनीक से जुड़ी हुई है। विद्यार्थी सोशल मीडिया, ब्लॉग और डिजिटल प्लेटफ़ॉर्म का उपयोग कर पर्यावरणीय मुद्दों पर जानकारी साझा कर सकते हैं। वे ऑनलाइन अभियान चला सकते हैं, वीडियो बना सकते हैं और जनमानस को जोड़ सकते हैं। डिजिटल माध्यम से पर्यावरण शिक्षा अधिक प्रभावी और व्यापक हो सकती है।

सामुदायिक भागीदारी और नेतृत्व

विद्यार्थी केवल विद्यालय तक सीमित नहीं रहते, बल्कि वे अपने समुदाय में भी सक्रिय भूमिका निभा सकते हैं। वे स्थानीय स्तर पर सफाई अभियान, जल संरक्षण परियोजना और वृक्षारोपण कार्यक्रम चला सकते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यार्थी किसानों को जैविक खेती और प्राकृतिक संसाधनों के संरक्षण के लिए प्रेरित कर सकते हैं। शहरी क्षेत्रों में वे अपशिष्ट प्रबंधन और पुन र्चक्रण की दिशा में कार्य कर सकते हैं।(5)

भविष्य की संभावनाएँ और चुनौतियाँ

भविष्य में विद्यार्थियों की भूमिका और भी महत्वपूर्ण होगी। सतत विकास के लक्ष्य तभी पूरे हो सकते हैं जब युवा पीढ़ी पर्यावरणीय मूल्यों को अपनाए। हालांकि चुनौतियाँ भी कम नहीं हैं—आधुनिक जीवनशैली, उपभोक्तावाद और तकनीकी निर्भरता पर्यावरणीय संकट को बढ़ा रही हैं। विद्यार्थियों को इन चुनौतियों का सामना करते हुए संतुलित जीवनशैली अपनानी होगी।

पर्यावरण को संरक्षित करने के लिए हम सभी का दायित्व - यह संपूर्ण विश्व के लोगों की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। इसके लिए हम को बहुत छोटी छोटी बात पर ध्यान देना होगा और हमारे पर्यावरण को उन हानिकारक चीजों से बचाना होगा, जिससे पर्यावरण हमारा प्रदूषित हो रहा है। यह हम सब को एकजुट जागरूक होकर करना होगा। जैसे लोग प्लास्टिक के थैलों का ज्यादा इस्तेमाल कर रहे हैं, पेट्रोल डीजल युक्त साधनों का प्रयोग कर रहे हैं, वनों की अंधाधुंध कटाई कर रहे हैं, इन सभी चीजों को बंद करना होगा। तभी हम पर्यावरण को सुरक्षित संरक्षित रख पाएंगे। यह किसी एक व्यक्ति का काम नहीं होता। इसके लिए सभी को जागरूक होकर एक साथ काम करना होगा। लोगों को पर्यावरण के संरक्षण के महत्व को समझाना होगा। यह हम सबका दायित्व है कि हम अपने पर्यावरण को संरक्षित और सुरक्षित रखें। (6)

पर्यावरण संरक्षण में लोगों की भूमिका - पर्यावरण संरक्षण के लिए सबसे अधिक लोगों की भूमिका होती है, क्योंकि हम खुद अपने पर्यावरण को संरक्षित रखने में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं। सबसे पहले हमें इको फ्रेंडली चीजों का निर्माण कर उनको उपयोग में लाना होगा, क्योंकि इको फ्रेंडली चीजें हमारे पर्यावरण को नुकसान नहीं पहुंचाती है। इसीलिए लोगों को भी अधिक से अधिक संख्या में इन चीजों का प्रयोग करने के लिए बताना होगा। इनके महत्व को समझाना होगा तभी हम अपने पर्यावरण को संरक्षित कर पाएंगे। इको फ्रेंडली का मतलब यह होता है कि मनुष्य उन वस्तुओं का निर्माण करता है, जो हमारे पर्यावरण के अनुरूप हो हमारे पर्यावरण को किसी प्रकार का कोई नुकसान ना पहुंचाएं।(7)

मनुष्य जीवन में पर्यावरण के संरक्षण का महत्व - आज से ही नहीं बल्कि प्राचीन समय से हमारे देश में पर्यावरण का बहुत महत्व रहा है, क्योंकि प्रकृति का संरक्षण करना मतलब उसका पूजन करने के समान होता है। हमारे देश में पर्वत, नदी, वायु, आग, ग्रह नक्षत्र, पेड़ पौधे यह सभी कहीं ना कहीं मानव के साथ जुड़े हुए हैं। मनुष्य के साथ एक गहरा रिश्ता है, क्योंकि यह सभी हमें प्रकृति के द्वारा प्रधान हुए हैं। हम खुद भी प्रकृति की ही देन है। हमारे देश में वृक्षों को संतान के स्वरूप नदियों को मां के समान माना गया है। हमारे देश में ऋषि-मुनियों को पहले से ही पता था कि मनुष्य का स्वभाव किस प्रकार से होता है। मनुष्य अपने स्वार्थ और लालच के लिए किस हद तक जा सकते हैं, इसीलिए मनुष्य ने प्रकृति के साथ भी अपने संबंधों को कभी विकसित नहीं किया। विद्यार्थियों का योगदान बहुआयामी है। वे शिक्षा, जागरूकता, व्यवहार और नेतृत्व के माध्यम से पर्यावरण संरक्षण को जनआंदोलन का रूप दे सकते हैं। यदि विद्यार्थी अपने जीवन में पर्यावरणीय मूल्यों को अपनाएँ और दूसरों को प्रेरित करें तो आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित और संतुलित पर्यावरण सुनिश्चित किया जा सकता है। यदि विद्यार्थी सक्रिय रूप से पर्यावरण संरक्षण गतिविधियों में भाग लें तो समाज में पर्यावरणीय जागरूकता और व्यवहार में सकारात्मक परिवर्तन संभव है। विद्यार्थी समाज के परिवर्तनकारी एजेंट हैं। उनके प्रयासों से पर्यावरण संरक्षण को जनआंदोलन का रूप दिया जा सकता है। शिक्षा और जागरूकता के माध्यम से वे आने वाली पीढ़ियों के लिए सुरक्षित पर्यावरण सुनिश्चित कर सकते हैं। पर्यावरण को संरक्षित करने के लिए हम सभी का दायित्व है (8)

निष्कर्ष - यह संपूर्ण विश्व के लोगों की बहुत बड़ी जिम्मेदारी है। इसके लिए हम सभी को बहुत छोटी छोटी बात पर ध्यान देना होगा और हमारे पर्यावरण को उन हानिकारक चीजों से बचाना होगा, जिससे पर्यावरण हमारा प्रदूषित हो रहा है। यह हम सब को एकजुट और जागरूक होकर करना होगा। जैसे लोग प्लास्टिक के थैलों का ज्यादा इस्तेमाल कर रहे हैं, पेट्रोल डीजल युक्त साधनों का प्रयोग कर रहे हैं, वनों की अंधाधुंध कटाई कर रहे हैं, इन सभी चीजों को बंद करना होगा। तभी हम पर्यावरण को सुरक्षित संरक्षित रख पाएंगे। यह किसी एक व्यक्ति का काम नहीं होता। इसके लिए सभी को जागरूक होकर एक साथ काम करना होगा। लोगों को पर्यावरण के संरक्षण के महत्व को समझाना होगा। यह हम सबका दायित्व है कि हम अपने पर्यावरण को संरक्षित और सुरक्षित रखें। संरक्षण के लिए सबसे अधिक लोगों की भूमिका होती है, क्योंकि हम खुद अपने पर्यावरण को

संरक्षित रखने में बहुत बड़ी भूमिका निभाते हैं। सबसे पहले हमें इको फ्रेंडली चीजों का निर्माण कर उनको उपयोग में लाना होगा, क्योंकि इको फ्रेंडली चीजें हमारे पर्यावरण को नुकसान नहीं पहुंचाती है। इसीलिए लोगों को भी अधिक से अधिक संख्या में इन चीजों का प्रयोग करने के लिए बताना होगा। इनके महत्व को समझाना होगा तभी हम अपने पर्यावरण को संरक्षित कर पाएंगे। इको फ्रेंडली का मतलब यह होता है कि मनुष्य उन वस्तुओं का निर्माण करता है, जो हमारे पर्यावरण के अनुरूप हो हमारे पर्यावरण को किसी प्रकार का कोई नुकसान ना पहुंचाएं।

संदर्भ सूची

1 शर्मा, आर. (2018). पर्यावरण शिक्षा और संरक्षण. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
2 गुप्ता, एस. (2019). सतत विकास और विद्यार्थी. वाराणसी: भारती प्रकाशन।
3 मिश्रा, पी. (2020). पर्यावरणीय संकट और समाधान. पटना: ज्ञान भारती।
4 सिंह, ए. (2021). विद्यालयों में पर्यावरण शिक्षा. लखनऊ: शिक्षा निकेतन।
5 वर्मा, डी. (2017). प्रकृति और मानव. दिल्ली: साहित्य सदन।
6 चौधरी, के. (2016). पर्यावरण संरक्षण आंदोलन. भोपाल: मध्य भारत प्रकाशन।
7 यादव, एन. (2022). विद्यार्थी और समाज. जयपुर: लोकभारती।
8 त्रिपाठी, आर. (2015). पर्यावरणीय चुनौतियाँ. इलाहाबाद: हिंदी साहित्य पर
9 Carson, R. (1962). *Silent Spring*. Boston: Houghton Mifflin.
10 Meadows, D. H., Meadows, D. L., Randers, J., & Behrens, W. W. (1972). *The Limits to Growth*. New York: Universe Books.
11 Orr, D. W. (1994). *Earth in Mind: On Education, Environment, and the Human Prospect*. Washington, DC: Island Press.

दलित और आदिवासी महिला लेखकों का साहित्य – तुलनात्मक अध्ययन

डॉ. पुनीता कुमारी*

सार

भारतीय साहित्य में दलित और आदिवासी महिला लेखकों का उद्‌भव सामाजिक न्याय, अस्मिता और प्रतिरोध की एक सशक्त धारा के रूप में देखा जाता है। इन दोनों वर्गों की लेखिकाओं ने अपने अनुभवों के माध्यम से समाज में व्याप्त बहुस्तरीय शोषण–जाति, वर्ग और लिंग आधारित असमानताओं–को उजागर किया है। दलित महिला लेखन मुख्यतः जातिगत उत्पीड़न, सामाजिक बहिष्कार और लैंगिक हिंसा के अनुभवों को केंद्र में रखता है, जबकि आदिवासी महिला साहित्य में प्रकृति, सांस्कृतिक पहचान, विस्थापन और अस्तित्व के संकट प्रमुख विषय होते हैं।

यह अध्ययन दलित और आदिवासी महिला लेखन के प्रमुख सरोकारों, अभिव्यक्ति के स्वरूप, भाषा-शैली और वैचारिक आधार का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसके माध्यम से यह स्पष्ट किया गया है कि दोनों ही धाराएँ भिन्न सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों से उत्पन्न होते हुए भी प्रतिरोध, अस्मिता और समानता के साझा मूल्यों को अभिव्यक्त करती हैं।

मुख्य शब्द: दलित साहित्य, आदिवासी साहित्य, महिला लेखन, अस्मिता, सामाजिक न्याय, तुलनात्मक अध्ययन

प्रस्तावना

भारतीय साहित्य में दलित और आदिवासी महिला लेखन का उभार बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में एक महत्वपूर्ण साहित्यिक और सामाजिक घटना के रूप में सामने आया। यह वह समय था जब हाशिए पर स्थित समुदायों ने अपनी आवाज को स्वयं अभिव्यक्त करना शुरू किया और मुख्यधारा के साहित्यिक विमर्श को चुनौती दी। विशेष रूप से दलित और आदिवासी महिलाओं ने अपने अनुभवों को शब्द देकर न केवल साहित्य को समृद्‌ध किया, बल्कि सामाजिक चेतना को भी नई दिशा प्रदान की।

दलित महिला लेखन का आधार सामाजिक संरचना में निहित जातिगत भेदभाव और लैंगिक उत्पीड़न है। यह लेखन उस पीड़ा और संघर्ष को अभिव्यक्त करता है, जिसे दलित महिलाओं ने सदियों से झेला है। दूसरी ओर, आदिवासी महिला लेखन प्रकृति के साथ गहरे संबंध, सांस्कृतिक परंपराओं और आधुनिक विकास के नाम पर होने वाले विस्थापन के अनुभवों को केंद्र में रखता है।

दोनों ही धाराएँ मुख्यधारा के साहित्य से भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करती हैं और समाज के उन पहलुओं को उजागर करती हैं, जिन्हें लंबे समय तक नजरअंदाज किया गया। यह तुलनात्मक अध्ययन इन दोनों धाराओं के बीच समानताओं और भिन्नताओं को समझने का प्रयास करता है, ताकि भारतीय साहित्य में इनके योगदान को समग्र रूप से देखा जा सके।

दलित महिला लेखन: अनुभव और प्रतिरोध

दलित महिला लेखन भारतीय समाज की जातिगत संरचना के भीतर उत्पन्न शोषण और असमानता का सजीव दस्तावेज है। इस लेखन में दलित महिलाओं के जीवन के यथार्थ को बिना किसी आडंबर के प्रस्तुत किया गया है। यह साहित्य केवल व्यक्तिगत अनुभवों का वर्णन नहीं है, बल्कि सामूहिक पीड़ा और संघर्ष का प्रतिनिधित्व करता है।

* सहायक प्राध्यापक, हिन्दी–विभाग फारबिसगंज, कॉलेज, फारबिसगंज

दलित महिला लेखिकाओं ने अपने लेखन के माध्यम से यह स्पष्ट किया है कि उनके अनुभव केवल लिंग आधारित नहीं, बल्कि जाति और वर्ग के साथ जुड़े हुए हैं। इस प्रकार उनका संघर्ष बहुआयामी है। उनकी रचनाओं में सामाजिक बहिष्कार, शिक्षा से वंचित होना, आर्थिक शोषण और लैंगिक हिंसा जैसे मुद्दे प्रमुखता से उभरते हैं।

भाषा और शैली के स्तर पर दलित महिला लेखन में सादगी और स्पष्टता दिखाई देती है। इसमें अलंकारिकता की अपेक्षा यथार्थ का सीधा चित्रण अधिक महत्वपूर्ण होता है। यह लेखन पाठक को झकझोरने और उसे सामाजिक यथार्थ से रूबरू कराने का कार्य करता है।

आदिवासी महिला लेखन: प्रकृति, पहचान और संघर्ष

आदिवासी महिला लेखन भारतीय साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है, जो प्रकृति और संस्कृति के गहरे संबंध को अभिव्यक्त करता है। इस लेखन में आदिवासी समाज की जीवन शैली, परंपराएँ और उनके सामने आने वाली चुनौतियों का चित्रण किया जाता है।

आदिवासी महिला लेखिकाएँ अपने साहित्य में जंगल, जमीन और जल से जुड़े अपने संबंध को प्रमुखता से प्रस्तुत करती हैं। उनके लिए प्रकृति केवल संसाधन नहीं, बल्कि जीवन का आधार है। इसलिए जब विकास के नाम पर उनका विस्थापन होता है, तो यह केवल भौतिक नहीं, बल्कि सांस्कृतिक और अस्तित्वगत संकट भी होता है।

उनकी रचनाओं में भाषा का स्वरूप भी अलग होता है, जिसमें स्थानीय बोलियों और सांस्कृतिक प्रतीकों का प्रयोग अधिक होता है। यह लेखन अपनी मौलिकता और प्रामाणिकता के कारण विशेष महत्व रखता है।

तुलनात्मक विश्लेषण: समानताएँ और भिन्नताएँ

दलित और आदिवासी महिला लेखन के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि दोनों ही धाराएँ अपने-अपने सामाजिक संदर्भों से उत्पन्न होते हुए भी कई स्तरों पर एक-दूसरे से जुड़ी हुई हैं। दोनों ही लेखन परंपराएँ शोषण, असमानता और अन्याय के विरुद्ध प्रतिरोध की भावना को व्यक्त करती हैं।

जहाँ दलित महिला लेखन का केंद्र जातिगत भेदभाव और सामाजिक बहिष्कार है, वहीं आदिवासी महिला लेखन का केंद्र विस्थापन और सांस्कृतिक पहचान का संकट है। इस प्रकार दोनों की समस्याएँ भिन्न होते हुए भी उनके मूल में सामाजिक अन्याय ही है।

भाषा और शैली में भी अंतर देखने को मिलता है। दलित लेखन अपेक्षाकृत अधिक प्रत्यक्ष और आक्रामक होता है, जबकि आदिवासी लेखन में प्रतीकात्मकता और प्रकृति के माध्यम से अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति अधिक होती है।

समकालीन संदर्भ और प्रासंगिकता

वर्तमान समय में दलित और आदिवासी महिला लेखन की प्रासंगिकता और भी बढ़ गई है। वैश्वीकरण और विकास की प्रक्रियाओं ने जहाँ एक ओर नए अवसर प्रदान किए हैं, वहीं दूसरी ओर नए प्रकार के शोषण और विस्थापन की समस्याएँ भी उत्पन्न की हैं।

इन परिस्थितियों में इन लेखिकाओं का साहित्य हमें यह समझने में मदद करता है कि विकास की प्रक्रिया में हाशिए पर स्थित समुदायों के अधिकारों और अस्तित्व को कैसे सुरक्षित रखा जा सकता है।

निष्कर्ष

दलित और आदिवासी महिला लेखन भारतीय साहित्य की दो महत्वपूर्ण धाराएँ हैं, जो समाज के उपेक्षित वर्गों की आवाज को अभिव्यक्त करती हैं। इन दोनों का तुलनात्मक अध्ययन यह दर्शाता है कि भिन्न

सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भों के बावजूद दोनों ही धाराएँ सामाजिक न्याय, समानता और अस्मिता के लिए संघर्षरत हैं।

इन लेखिकाओं का साहित्य न केवल साहित्यिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है, बल्कि सामाजिक परिवर्तन के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

संदर्भ

- वाल्मीकि, ओमप्रकाश. (1997). *जूठन*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन।
- बामा. (2000). *करुक्कु* (अनुवाद). नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- पावड़े, कुमुद. (1983). *अंतःस्फोट*. मुंबई: ग्रंथाली।
- पवार, उर्मिला. (2003). *आयदान*. मुंबई: मौज प्रकाशन।
- इलैया, कांचा. (1996). *मैं हिंदू क्यों नहीं हूँ*. नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन।
- देवी, महाश्वेता. (1995). *द्रौपदी*. कोलकाता: सीगल बुक्स।
- गुप्ता, रामनिका. (2008). *आदिवासी साहित्य और संस्कृति*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
- सुंदर, नंदिनी. (2007). *सबऑल्टर्न्स और राज्य*. नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
- तलवार, वीर भारत. (2010). *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।
- बेचैन, श्यौराज सिंह. (2011). *दलित आत्मकथाएं*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
- भारती, अनिता. (2013). *दलित स्त्री लेखन*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
- शर्मा, मंजू. (2016). *आदिवासी विमर्श*. नई दिल्ली: राधाकृष्ण प्रकाशन।
- लिंबाले, शरणकुमार. (2004). *दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
- गाताडे, सुभाष. (2012). *हाशिए का समाज*. नई दिल्ली: ग्रंथशिल्पी।
- चतुर्वेदी, गीता. (2015). *स्त्री और दलित विमर्श*. नई दिल्ली: सामयिक प्रकाशन।
- कुमार, राधा. (1993). *स्त्री संघर्ष का इतिहास*. नई दिल्ली: वाणी प्रकाशन।
- जैन, निर्मला. (2008). *हिंदी साहित्य का इतिहास*. नई दिल्ली: नेशनल पब्लिशिंग हाउस।
- द्विवेदी, हजारीप्रसाद. (1985). *हिंदी साहित्य की भूमिका*. नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।

जनजातीय समुदायों में बदलते आजीविका के स्वरूपः एक व्यापक अध्ययन

डॉ. ज्योति ठाकुर*

सारांश

भारत के जनजातीय समुदाय ऐतिहासिक रूप से प्राकृतिक संसाधनों–विशेषकर जंगल, भूमि और जल–पर आधारित आजीविका अपनाते रहे हैं। इन समुदायों की जीवनशैली आत्मनिर्भर, सामुदायिक और पर्यावरण के अनुकूल रही है। किंतु बीते कुछ दशकों में वैश्वीकरण, औद्योगिकीकरण, सरकारी विकास योजनाओं, शिक्षा के प्रसार, जलवायु परिवर्तन तथा बाजार अर्थव्यवस्था के प्रभाव से इनके आजीविका के स्वरूप में व्यापक परिवर्तन देखने को मिले हैं। इस शोध-पत्र का उद्देश्य जनजातीय समुदायों की पारंपरिक आजीविका को समझना, उसमें आए परिवर्तनों की प्रकृति का विश्लेषण करना, परिवर्तन के कारणों की पहचान करना तथा इसके सामाजिक एवं आर्थिक प्रभावों का अध्ययन करना है। अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जहाँ एक ओर आजीविका के नए अवसरों ने आय में वृद्धि की है, वहीं दूसरी ओर पारंपरिक ज्ञान, सांस्कृतिक पहचान और पर्यावरणीय संतुलन पर नकारात्मक प्रभाव भी पड़ा है।

परिचय

भारत में जनजातीय समुदाय देश की सांस्कृतिक विविधता का एक महत्वपूर्ण अंग हैं। 2011 की जनगणना के अनुसार, भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 8.6% हिस्सा अनुसूचित जनजातियों से संबंधित है। ये समुदाय मुख्यतः वन क्षेत्रों, पहाड़ी इलाकों और दूरस्थ ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करते हैं।

परंपरागत रूप से जनजातीय समुदायों की आजीविका प्रकृति पर आधारित रही है, जिसमें शिकार, संग्रहण, झूम खेती, पशुपालन और वन उत्पादों का उपयोग प्रमुख रहा है। इन गतिविधियों में बाजार का हस्तक्षेप न्यूनतम था और जीवन का उद्देश्य आत्मनिर्भरता था।

हालांकि, पिछले कुछ दशकों में विकास की प्रक्रिया ने जनजातीय जीवन में गहरे परिवर्तन किए हैं। आधुनिक शिक्षा, सड़क और संचार सुविधाओं का विस्तार, औद्योगिकीकरण, सरकारी योजनाएँ तथा शहरीकरण ने जनजातीय समुदायों के आर्थिक जीवन को प्रभावित किया है (गौतम एवं जसरोतिया, 2025)।

साहित्य समीक्षा

विभिन्न अध्ययनों में जनजातीय आजीविका के परिवर्तन को अलग-अलग दृष्टिकोण से समझाया गया है।

मारोवा, डी., एवं अन्य. (2024) के अनुसार, जनजातीय समुदायों की आय का एक बड़ा हिस्सा अब भी वन उत्पादों से आता है, किंतु यह अनुपात धीरे-धीरे कम हो रहा है।

कुमार एवं मोहनसुंदरी (2025) ने बताया कि जलवायु परिवर्तन के कारण जनजातीय आजीविका की स्थिरता प्रभावित हो रही है, जिससे उनकी आर्थिक असुरक्षा बढ़ रही है।

छंदामा, मजूमदार एवं सेनगुप्ता (2025) के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि सरकारी योजनाओं और विकास कार्यक्रमों ने जनजातीय समुदायों को नए रोजगार विकल्प प्रदान किए हैं, जिससे उनके जीवन स्तर में सुधार हुआ है।

त्रिपाठी एवं दास (2020) ने पाया कि कृषि विविधीकरण के माध्यम से जनजातीय किसानों की आय में वृद्धि हुई है।

* समाजशास्त्र विभाग, महाविद्यालय : नवीन शासकीय कन्या महाविद्यालय, मोहला मानपुर, अंबागढ़, चौकी छत्तीसगढ़

लाकुम (2025) के अनुसार, स्थानीय संसाधनों पर आधारित उद्यमिता जनजातीय समुदायों के लिए एक नया और प्रभावी आजीविका विकल्प बनकर उभरी है।

अध्ययन के उद्देश्य

1. जनजातीय समुदायों की पारंपरिक आजीविका का अध्ययन करना
2. बदलते आजीविका के स्वरूपों की पहचान करना
3. परिवर्तन के प्रमुख कारणों का विश्लेषण करना
4. इन परिवर्तनों के प्रभावों का अध्ययन करना
5. सतत आजीविका के लिए सुझाव देना

अनुसंधान पद्धति

यह अध्ययन मुख्यतः **द्वितीयक आंकड़ों** पर आधारित है। इसमें विभिन्न शोध-पत्रों, जर्नल लेखों, सरकारी रिपोर्टों और पुस्तकों का विश्लेषण किया गया है।

परिकल्पनाएँ

इस अध्ययन के लिए निम्नलिखित परिकल्पनाएँ निर्धारित की गई हैं:

मुख्य परिकल्पना

H_1: जनजातीय समुदायों में आजीविका के स्वरूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है, जो शिक्षा, सरकारी योजनाओं, बाजार प्रभाव तथा जलवायु परिवर्तन जैसे कारकों से प्रभावित है।

H_0 (शून्य परिकल्पना): जनजातीय समुदायों में आजीविका के स्वरूप में कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नहीं हुआ है और यह उपर्युक्त कारकों से प्रभावित नहीं है।

सहायक परिकल्पनाएँ

1. शिक्षा से संबंधित

H_{11}: शिक्षा का स्तर बढ़ने से जनजातीय समुदायों में पारंपरिक आजीविका से आधुनिक आजीविका की ओर झुकाव बढ़ता है।

H_{01}: शिक्षा का स्तर आजीविका के स्वरूप में परिवर्तन को प्रभावित नहीं करता।

2. सरकारी योजनाओं से संबंधित

H_{12}: सरकारी योजनाएँ जनजातीय समुदायों के लिए नए रोजगार अवसर उत्पन्न करती हैं, जिससे आजीविका में विविधता आती है।

H_{02}: सरकारी योजनाओं का आजीविका परिवर्तन पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ता।

3. बाजार प्रभाव से संबंधित

H_{13}: बाजार की मांग जनजातीय समुदायों को नकदी फसलों और व्यवसायिक गतिविधियों की ओर प्रेरित करती है।

H_{03}: बाजार का प्रभाव जनजातीय आजीविका के स्वरूप को प्रभावित नहीं करता।

4. जलवायु परिवर्तन से संबंधित

H_{14}: जलवायु परिवर्तन पारंपरिक आजीविका को अस्थिर बनाता है, जिससे लोग वैकल्पिक रोजगार अपनाते हैं।

H_{04}: जलवायु परिवर्तन का आजीविका परिवर्तन पर कोई प्रभाव नहीं है।

5. प्रवासन से संबंधित

H_{15}: रोजगार के लिए प्रवासन जनजातीय समुदायों के आजीविका स्वरूप को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

H_{05}: प्रवासन का आजीविका परिवर्तन पर कोई प्रभाव नहीं है।

जनजातीय समुदायों की पारंपरिक आजीविका

1. शिकार और संग्रहण

जनजातीय समुदायों की सबसे पुरानी आजीविका शिकार और वन उत्पादों के संग्रह पर आधारित रही है। वे जंगली फल, कंद-मूल, शहद और औषधीय पौधों का संग्रह करते थे।

2. झूम खेती

झूम खेती एक पारंपरिक कृषि पद्धति है, जिसमें जंगल के एक हिस्से को साफ कर अस्थायी खेती की जाती है।

3. पशुपालन

कुछ जनजातीय समुदाय पशुपालन को अपनी आजीविका का हिस्सा बनाते हैं।

4. वन उत्पादों पर निर्भरता

महुआ, तेंदू पत्ता, साल बीज आदि जैसे उत्पाद उनके जीवन का महत्वपूर्ण हिस्सा रहे हैं।

बदलते आजीविका के स्वरूप

1. कृषि का व्यावसायीकरण

आज कई जनजातीय किसान नकदी फसलें जैसे कपास, सब्जियाँ और फल उगा रहे हैं, जिससे उनकी आय में वृद्धि हो रही है (त्रिपाठी एवं दास, 2020)।

2. मजदूरी और असंगठित क्षेत्र

जनजातीय लोग अब निर्माण कार्य, खदानों और उद्योगों में मजदूरी कर रहे हैं।

3. प्रवासन

रोजगार के लिए ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर प्रवासन बढ़ रहा है।

4. लघु उद्यम

हस्तशिल्प, वन उत्पादों की प्रोसेसिंग और स्थानीय व्यापार जैसे कार्य बढ़ रहे हैं (लाकुम, 2025)।

5. सरकारी योजनाओं का प्रभाव

सरकारी योजनाओं ने रोजगार और आर्थिक सहायता प्रदान की है, जिससे आजीविका में विविधता आई है।

आरेख 1: आजीविका परिवर्तन की प्रक्रिया

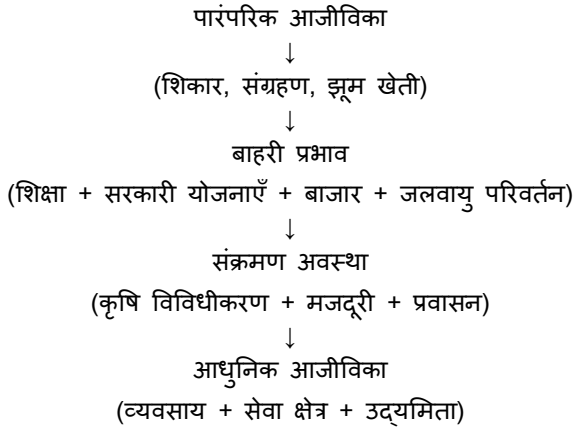

परिवर्तन के प्रमुख कारण

1. शिक्षा का प्रसार

शिक्षा के कारण जनजातीय युवाओं की आकांक्षाएँ बढ़ी हैं और वे पारंपरिक व्यवसायों से हटकर आधुनिक रोजगार की ओर बढ़ रहे हैं।

2. जलवायु परिवर्तन

अनियमित वर्षा और प्राकृतिक संसाधनों की कमी ने पारंपरिक आजीविका को प्रभावित किया है (कुमार एवं मोहनसुंदरी, 2025)।

3. सरकारी नीतियाँ

सरकार द्वारा चलाई जा रही योजनाओं ने नए रोजगार अवसर प्रदान किए हैं।

4. बाजार का प्रभाव

बाजार की मांग ने उत्पादन के स्वरूप को बदल दिया है।

5. भूमि और संसाधनों की कमी

भूमि विहीनता और वन क्षेत्रों में कमी ने पारंपरिक आजीविका को सीमित किया है।

सामाजिक एवं आर्थिक प्रभाव

सकारात्मक प्रभाव

- आय में वृद्धि
- रोजगार के अवसरों में वृद्धि
- जीवन स्तर में सुधार

नकारात्मक प्रभाव

- पारंपरिक संस्कृति का ह्रास
- पर्यावरणीय असंतुलन
- अस्थायी रोजगार और असुरक्षा

आरेख 2: आजीविका परिवर्तन के कारण और प्रभाव

केस स्टडी

1. छत्तीसगढ़ (बस्तर क्षेत्र)

छत्तीसगढ़ के बस्तर क्षेत्र में गोंड, मुरिया और हल्बा जनजातियाँ प्रमुख रूप से निवास करती हैं। पारंपरिक रूप से इनकी आजीविका **लघु वनोपज (NTFPs)** जैसे तेंदूपत्ता, महुआ और साल बीज पर आधारित रही है।

हाल के वर्षों में यह देखा गया है कि इन समुदायों की निर्भरता केवल वन उत्पादों तक सीमित नहीं रही, बल्कि वे मजदूरी, सरकारी योजनाओं और छोटे व्यवसायों की ओर भी बढ़े हैं। विशेष रूप से मनरेगा भारत ने ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार के अवसर प्रदान किए हैं, जिससे आय में स्थिरता आई है (कुमार एवं मोहनसुंदरी, 2025)।

हालांकि, इस परिवर्तन के कारण पारंपरिक ज्ञान और सांस्कृतिक प्रथाओं में कमी देखी जा रही है (खाखा, 2014)।

2. झारखंड

झारखंड में संथाल, मुंडा और उरांव जनजातियाँ प्रमुख हैं। पारंपरिक रूप से ये समुदाय वर्षा आधारित कृषि और वन उत्पादों पर निर्भर थे।

औद्योगिकीकरण और खनन गतिविधियों के विस्तार ने भूमि संसाधनों को प्रभावित किया है, जिससे जनजातीय समुदायों में **प्रवासन** बढ़ा है। आज बड़ी संख्या में लोग शहरी क्षेत्रों में मजदूरी और सेवा क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं (शाहदेव, 2020)।

इसके अतिरिक्त, राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन भारत के तहत स्वयं सहायता समूहों (SHGs) ने महिलाओं की आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ किया है (MoRD, 2021)।

3. ओडिशा

ओडिशा के कोरापुट और मयूरभंज जिलों में जनजातीय समुदायों की पारंपरिक आजीविका झूम खेती और वन संसाधनों पर आधारित रही है।

हाल के वर्षों में कृषि विविधीकरण को अपनाया गया है, जिसमें सब्जियों और नकदी फसलों का उत्पादन बढ़ा है। इससे आय में वृद्धि हुई है (त्रिपाठी एवं दास, 2020)।

इसके साथ ही, स्थानीय स्तर पर हस्तशिल्प और बांस उद्योग का विकास हुआ है, जिससे रोजगार के नए अवसर उत्पन्न हुए हैं (नायक, 2018)।

4. मध्य प्रदेश

मध्य प्रदेश में भील और बैगा जनजातियाँ प्रमुख हैं, जिनकी पारंपरिक आजीविका शिकार, संग्रहण और सीमित कृषि पर आधारित रही है।

वनाधिकार कानूनों के क्रियान्वयन के बाद, कई जनजातीय परिवारों को भूमि अधिकार प्राप्त हुए हैं, जिससे वे स्थायी कृषि की ओर बढ़े हैं (भारत सरकार, 2019)।

इसके अलावा, शिक्षा और सरकारी योजनाओं ने लोगों को मजदूरी और छोटे व्यवसायों की ओर प्रेरित किया है (सक्सेना, 2017)।

5. महाराष्ट्र (गढ़चिरौली)

गढ़चिरौली जिले में गोंड जनजाति प्रमुख है। यहाँ की पारंपरिक आजीविका वन उत्पादों पर आधारित रही है।

अब वन उत्पादों के **प्रोसेसिंग और विपणन** के माध्यम से आय में वृद्धि हुई है, विशेष रूप से सामुदायिक संस्थाओं और सहकारी समितियों के माध्यम से (देशपांडे, 2021)।

इसके साथ ही, शिक्षा और संपर्क सुविधाओं के कारण युवा वर्ग सरकारी और निजी नौकरियों की ओर भी बढ़ रहा है (मेहता, 2019)।

6. उत्तर-पूर्व भारत (नागालैंड/मिजोरम)

उत्तर-पूर्वी राज्यों में पारंपरिक रूप से झूम खेती प्रमुख रही है।

सरकार द्वारा स्थायी कृषि और बागवानी को बढ़ावा देने के कारण लोग अब फल उत्पादन, बागवानी और पर्यटन आधारित गतिविधियों में संलग्न हो रहे हैं (बरुआह, 2020)।

यह परिवर्तन पर्यावरण संरक्षण और आर्थिक विकास दोनों में सहायक सिद्ध हो रहा है।

7. राजस्थान (भील जनजाति)

राजस्थान के दक्षिणी क्षेत्रों में भील जनजाति निवास करती है। यहाँ की आजीविका कृषि और मजदूरी पर आधारित रही है।

जलवायु परिवर्तन और जल संकट के कारण प्रवासन में वृद्धि हुई है, जिससे आजीविका का स्वरूप बदल रहा है (मीणा, 2018)।

इसके साथ ही, कौशल विकास कार्यक्रमों और सरकारी योजनाओं ने स्वरोजगार के अवसर बढ़ाए हैं (योजना आयोग, 2013)।

"उपरोक्त केस स्टडीज़ से यह स्पष्ट होता है कि भारत के विभिन्न राज्यों में जनजातीय आजीविका परिवर्तन की प्रक्रिया समान दिशा में अग्रसर है, किंतु स्थानीय संसाधनों, नीतियों और पर्यावरणीय परिस्थितियों के अनुसार इसके स्वरूप में भिन्नता पाई जाती है (खाखा, 2014)।"

चर्चा और निष्कर्ष

इस अध्ययन से यह स्पष्ट रूप से सामने आता है कि जनजातीय समुदायों की आजीविका में परिवर्तन एक **धीमी लेकिन निरंतर और बहुआयामी प्रक्रिया** है। परंपरागत रूप से ये समुदाय प्राकृतिक संसाधनों–जैसे जंगल, भूमि और जल–पर आधारित जीवनयापन करते थे, जहाँ शिकार, संग्रहण, झूम खेती और वन उत्पादों का उपयोग मुख्य साधन थे। यह प्रणाली आत्मनिर्भर, सामुदायिक सहयोग पर आधारित तथा पर्यावरण के अनुकूल थी।

वर्तमान समय में, विभिन्न आंतरिक और बाहरी कारकों के प्रभाव से इस पारंपरिक ढांचे में महत्वपूर्ण परिवर्तन देखने को मिल रहा है। शिक्षा के प्रसार ने जनजातीय युवाओं की सोच और आकांक्षाओं को बदल दिया है, जिसके परिणामस्वरूप वे पारंपरिक व्यवसायों के बजाय आधुनिक रोजगार के अवसरों की ओर आकर्षित हो रहे हैं। इसी प्रकार, सरकारी योजनाओं और विकास कार्यक्रमों ने रोजगार के नए अवसर उत्पन्न किए हैं, जिससे आजीविका में विविधता आई है और आय के स्रोतों का विस्तार हुआ है।

बाजार अर्थव्यवस्था का प्रभाव भी इस परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। नकदी फसलों की मांग, वन उत्पादों का व्यावसायीकरण तथा स्थानीय स्तर पर उद्यमिता के विकास ने जनजातीय अर्थव्यवस्था को नई दिशा दी है। इसके अतिरिक्त, जलवायु परिवर्तन और पर्यावरणीय असंतुलन ने पारंपरिक आजीविका को अस्थिर बना दिया है, जिससे समुदायों को वैकल्पिक आजीविका अपनाने के लिए मजबूर होना पड़ा है।

प्रवासन भी एक प्रमुख कारक के रूप में उभरा है, जहाँ जनजातीय लोग रोजगार की तलाश में ग्रामीण क्षेत्रों से शहरी क्षेत्रों की ओर जा रहे हैं। इससे एक ओर आर्थिक अवसर बढ़े हैं, वहीं दूसरी ओर सामाजिक असुरक्षा और अस्थिरता भी बढ़ी है।

इन सभी परिवर्तनों के परिणामस्वरूप जनजातीय समुदायों की आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ है, आय के स्रोतों में विविधता आई है और जीवन स्तर में वृद्धि देखी गई है। परंतु इसके साथ-साथ कुछ नकारात्मक

प्रभाव भी सामने आए हैं, जैसे पारंपरिक ज्ञान और सांस्कृतिक मूल्यों का ह्रास, सामुदायिक एकता में कमी तथा पर्यावरणीय संसाधनों पर बढ़ता दबाव।

अतः यह कहा जा सकता है कि जनजातीय आजीविका में परिवर्तन एक **संतुलन की प्रक्रिया** है, जहाँ आर्थिक विकास और सांस्कृतिक संरक्षण के बीच समन्वय आवश्यक है। भविष्य की नीतियों में यह सुनिश्चित करना होगा कि विकास केवल आर्थिक दृष्टि से न होकर, सामाजिक, सांस्कृतिक और पर्यावरणीय दृष्टि से भी संतुलित और टिकाऊ हो।

तालिका 1: पारंपरिक बनाम आधुनिक आजीविका का तुलनात्मक विश्लेषण

आधार	पारंपरिक आजीविका	आधुनिक/बदलती आजीविका
प्रकृति	प्रकृति पर निर्भर	बाजार पर निर्भर
गतिविधियाँ	शिकार, संग्रहण, झूम खेती	मजदूरी, कृषि विविधीकरण, व्यवसाय
आय	सीमित और अनिश्चित	अपेक्षाकृत अधिक और विविध
तकनीक	पारंपरिक उपकरण	आधुनिक तकनीक
सामाजिक स्वरूप	सामुदायिक आधारित	व्यक्तिगत/निजी आधारित
जोखिम	प्राकृतिक जोखिम	बाजार और रोजगार जोखिम

तालिका 2: आजीविका परिवर्तन के प्रमुख कारण

क्रमांक	कारण	विवरण
1	शिक्षा	नई पीढ़ी में रोजगार की नई आकांक्षाएँ
2	सरकारी योजनाएँ	रोजगार और आर्थिक सहायता
3	जलवायु परिवर्तन	खेती और वन संसाधनों पर प्रभाव
4	बाजार अर्थव्यवस्था	नकदी फसलों की मांग
5	भूमि की कमी	पारंपरिक आजीविका में बाधा

तालिका 3: आजीविका परिवर्तन के प्रभाव

प्रकार	सकारात्मक प्रभाव	नकारात्मक प्रभाव
आर्थिक	आय में वृद्धि	आय अस्थिरता
सामाजिक	जीवन स्तर में सुधार	असमानता में वृद्धि
सांस्कृतिक	आधुनिकता का विकास	परंपराओं का ह्रास
पर्यावरणीय	संसाधनों का उपयोग	पर्यावरणीय क्षरण

मुख्य परिकल्पना

H_1:

✔ निष्कर्ष: जनजातीय समुदायों में आजीविका के स्वरूप में स्पष्ट और महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ है, जो बहु-कारकों से प्रभावित है।

सहायक परिकल्पनाएँ

1. शिक्षा

H_{11}:

✔ निष्कर्ष: शिक्षा के बढ़ते स्तर ने जनजातीय समुदायों को पारंपरिक आजीविका से आधुनिक रोजगार की ओर प्रेरित किया है।

2. सरकारी योजनाएँ

H_{12}:

✔ निष्कर्ष: सरकारी योजनाओं ने रोजगार के नए अवसर उत्पन्न कर आजीविका में विविधता लाने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

3. बाजार प्रभाव

H_{13}:

✔ निष्कर्ष: बाजार की मांग ने जनजातीय समुदायों को नकदी फसलों और व्यवसायिक गतिविधियों की ओर आकर्षित किया है।

4. जलवायु परिवर्तन

H_{14}:

✔ निष्कर्ष: जलवायु परिवर्तन ने पारंपरिक आजीविका को अस्थिर बनाकर वैकल्पिक आजीविका अपनाने को बढ़ावा दिया है।

5. प्रवासन

H_{15}:

✔ निष्कर्ष: प्रवासन ने जनजातीय समुदायों के आजीविका स्वरूप को बदलने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, हालांकि इससे अस्थिरता भी बढ़ी है।

सुझाव

- वन आधारित आजीविका को प्रोत्साहन
- कौशल विकास कार्यक्रम
- स्थानीय संसाधनों का उपयोग
- शिक्षा और प्रशिक्षण को बढ़ावा

संदर्भ सूची:

1. बरुआह, एस. (2020). *पूर्वोत्तर भारत में जनजातीय आजीविका.* ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
2. छंदामा, एल., मजूमदार, के., एवं सेनगुप्ता, ए. (2025). *जनजातीय समुदायों में विकासात्मक हस्तक्षेप.* स्प्रिंगर।
3. देशपांडे, आर. (2021). महाराष्ट्र में वन-आधारित आजीविका. *इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली, 56*(12), 45-52।
4. गौतम, आर. एस., एवं जसरोतिया, एस. एस. (2025). *परिवर्तनशील भारत में आजीविका का रूपांतरण.* सेज जर्नल्स।
5. भारत सरकार. (2019). *वन अधिकार अधिनियम के क्रियान्वयन की रिपोर्ट.* जनजातीय कार्य मंत्रालय।
6. कुमार, ए., एवं मोहनसुंदरी, टी. (2025). मध्य भारत के जनजातीय समुदायों में जलवायु परिवर्तन के प्रति आजीविका की संवेदनशीलता का आकलन. *साइंटिफिक रिपोर्ट्स*।
7. लाकुम, ए. सी. (2025). *जनजातीय समुदायों में स्वदेशी उद्यमिता.*

8. मारोवा, डी., एवं अन्य. (2024). दक्षिण भारत में जनजातीय पुनर्वास और सतत आजीविका. *कॉगेंट फूड एंड एग्रीकल्चर*।
9. मीणा, आर. (2018). राजस्थान में भील जनजातियों के बीच प्रवासन. *इंडियन जर्नल ऑफ सोशल वर्क, 79*(3), 321-335।
10. मेहता, ए. (2019). जनजातीय युवाओं की बदलती आकांक्षाएँ. *जर्नल ऑफ रूरल डेवलपमेंट, 38*(2), 210-225।
11. ग्रामीण विकास मंत्रालय (MoRD). (2021). *राष्ट्रीय ग्रामीण आजीविका मिशन रिपोर्ट*. भारत सरकार।
12. नायक, पी. (2018). जनजातीय हस्तशिल्प और आजीविका. *जर्नल ऑफ डेवलपमेंट स्टडीज़, 45*(4), 67-82।
13. योजना आयोग. (2013). *भारत में जनजातीय विकास पर रिपोर्ट*. भारत सरकार।
14. सक्सेना, एन. सी. (2017). *भारत में जनजातीय विकास नीतियाँ*. ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
15. शाहदेव, एच. (2020). झारखंड में औद्योगिकीकरण और जनजातीय विस्थापन. *सोशियोलॉजिकल बुलेटिन, 69*(1), 85-102।
16. त्रिपाठी, एस., एवं दास, एस. (2020). जनजातीय किसानों पर फसल विविधीकरण का प्रभाव।
17. खाखा, वी. (2014). *राज्य, समाज और जनजातियाँ: उत्तर-औपनिवेशिक भारत के मुद्दे*. पियर्सन।

श्रीमद्भागवत्पुराण में अष्टांगयोग का स्वरूपविमर्श

डॉ. अमृता मिश्रा*

पुरानवं भवति इति पुराणम् इस व्युत्पत्ति के अनुसार पुराणों का हमारे जीवन के प्रत्येक पक्ष पर प्रभाव परिलक्षित होता है । हमारे लिए पुराण अत्यंत महत्वपूर्ण है । पुराण में प्रतिपादित विषयवस्तु धार्मिक, दार्शनिक, ऐतिहासिक, भौगोलिकज्ञान, विज्ञान एवं नीति के तत्वों से सन्निहित है पुराण साहित्य में सर्वाधिक प्रचलित कृति श्रीमद्भागवत पुराण है । इस पुराण को समस्त दर्शनों का सार कहा गया है । भागवत पुराण में दार्शनिक सिद्धांतों का निदर्शन मिलता है । इसमें श्रीकृष्ण को ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान के रूप में वर्णन किया गया है । दर्शनों में प्रमुख योगदर्शन के सिद्धांत श्रीमद्भागवतपुराण में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं जैसे योग को परिभाषित करते हुए कहा गया है -

एतावान् योग आदिष्टो मच्छिष्यैः सनकादिभिः ।
सर्वतो मन आकृष्य मय्यध्दाऽऽवेश्यते यथा ।।[1]

अर्थात् चित्त की वृत्तियों के निरोध के साथ-साथ ईश्वर में अनन्य रूप से लगाना ही योग है । इस पुराण में कृष्ण को योगेश्वर कहा गया है । योग दर्शन के तत्वमीमांसा में अष्टांगयोग अतिप्रसिद्ध है । अष्टांगयोग का निरूपण श्रीमद्भागवत पुराण में दृष्टिगोचर होता है । योगदर्शन में वर्णित अष्टांगयोग का श्रीमद्भागवत पुराण में प्रत्यक्ष एवं परोक्षरूप में वर्णन किया गया है । पातंजलयोग के समान ही यहां भी यमादि अष्टांगयोग का निरूपण है ।

यम- महर्षि पतंजलिद्वारा निर्दिष्ट अष्टांगयोग में प्रथम यम के पांच भेदों[2] को सन्निहित करते हुए भागवत्पुराण में यम के द्वादश भेदों का निरूपण प्राप्त होता है-

अहिंसा सत्यमस्तेयमसङ्.गो हरिसंचयः ।
अस्ति ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यम् क्षमामयम् ।।[3]

पातंजल योगसूत्र के पांच यम के साथ ही भागवत्पुराण में सात अन्य का भी वर्णन है । इनमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असंग, लज्जा, असंचय, आस्तिकता, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा और अभय ।उपर्युक्त यमों के पालन से कामनाओं की पूर्ति होती है -

एते यमाः सनियमा उभयोद्धदिश स्मृता
पुंसामुपासितास्तात् यथाकामं दुहन्ति हि ।।[4] (भा.पु.11/19/35)

नियम- योग का द्वितीय अंग है - नियम । महर्षि पतंजलि ने पांच नियमों का उल्लेख किया है[5] । श्रीमद्भागवत्पुराण के एकादश स्कन्ध में बारह नियम बताए गये हैं-

शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धा तिथ्यमदर्चनम् ।
तीर्थाटनम् परार्थेहा तुष्टिराचार्य सेवनम् ।।[6]

अर्थात् शौच ,जप , तप, होम, श्रद्धा, अतिथिसत्कार, ईशोपासना, तीर्थाटन, परकल्याण की भावना, सन्तोष, आचार्य की सेवा नियम हैं ।

आसन- अष्टांगयोग में आसन तृतीय अंग है । **स्थिरसुखमासनम्**[7] इस लक्षण के अनुसार सुखपूर्वक स्थिर रहना ही आसन है । भागवतपुराण में आसन के विषय में कहा गया है -

सम आसन आसीनः समकायो यथासुखम् ।[8]

* पूर्वशोधच्छात्रा,संस्कृतविभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

अर्थात् - समतल स्थान पर शरीर को सीधा करके सुखपूर्वक बैठने का नाम ही आसन है । आसन सर्वदा शुद्ध पवित्र एवं एकान्त स्थान में लगाना चाहिए । भागवत में यह बताया गया है कि साधक को एकान्त स्थान में तीर्थ के पवित्र जल में स्नान करके आसन पर बैठना आवश्यक है ।[9] भागवतपुराण में कृष्ण -आसन के सम्बन्ध में विशिष्ट विधान किया गया है । आसन में धर्म आदि गुणों और विमला आदि शक्तियों की भावना करनी चाहिए । धर्म ,ज्ञान ,वैराज्ञ और ऐश्वर्य आसन के चार कोण पर विद्यमान रहते हैं । योगी पुरुष जब मनुष्य लोक का त्याग करता है तब सुखपूर्वक स्थिर आसन पर बैठकर प्राणों को जीतकर मन से इन्द्रियों का संयम करें ।

प्राणायाम- श्वास-प्रश्वास के गति का विच्छेद ही प्रणायाम नामक योग का अंग है। इस अंग के पालन का चित्त के वृत्तियों के निरोध में बहुत महत्व है । **प्राणायामः परं बलम्**[10] के कथन से प्राणायाम को परम् बल कहा गया है । (11/19/39) भागवत्पुराण में प्राणायाम के प्रकार पूरक रेचक कुम्भक का वर्णन है

प्राणस्य शोधयेन्मार्ग पूरककुम्भक रेचकैः ।
प्रतिकूलेन वा चित्तं यथा स्थिरमचंचलम् ।।[11]

शिवपुराण में अगर्भ एवं सगर्भ रूप में दो प्रकार के प्राणायाम की चर्चा प्राप्त है ।

अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।
जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ।।[12]

इनमें जप एवं ध्यान से रहित प्राणायाम अगर्भ प्राणायाम है तथा जप, ध्यान सहित प्राणायाम सगर्भ प्राणायाम है । भागवत के अनुसार सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ होता है । अगर्भ की अपेक्षा सगर्भ का सौ गुना फल प्राप्त होता है ।[13] जप, तप तथा भक्ति की प्रधानता होने के कारण योगी जनों द्वारा सगर्भ का अनुष्ठान किया जाता है । विष्णुपुराण में अगर्भ को अबीज तथा सगर्भ को सबीज प्राणायाम की संज्ञा दी गई है ।[114]

प्रत्याहार- प्रत्याहार के विषय में भी भागवत पुराण में चर्चा की गयी है । साधक को आसन तथा प्राणायाम के सिद्धि के पश्चात् अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाना प्रत्याहार है । भागवत् में बुद्धिमान् पुरुष को उनके विषयों से दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए तथा मन को बुद्धि रूपी सारथि के माध्यम से परमात्मा में लगा देना चाहिए ।भागवत् में श्रीकृष्ण का वचन -

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाऽऽकृष्य तन्मन
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ।।[15] **(11/14/42)**

प्रत्याहार का मुख्य उद्देश्य इन्द्रियों को विषयों से विमुख करके परमात्मा में लीन करना है ।

धारणा- धारणा योग का आन्तरिक अन्तरंग है । धारणा के द्वारा अन्तरंग भूमि में प्रवेश करते हैं । राजा परीक्षित के प्रश्न करने पर शुकदेव जी कहते हैं कि आसन ,श्वास , आसक्ति तथा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करनें के पश्चात् सर्वप्रथम बुद्धि के द्वारा मन को भगवान के स्थूल रूप में लगाना ही धारणा है । यहां धारणा के आश्रय विराट् पुरुष भगवान को कहा गया है । पातंजल योगसूत्र में **देशबन्धचित्तस्य धारणा**[16] के द्वारा धारणा के स्वरूप को बताया गया है । भागवतपुराण में धारणा के दो प्रकारों का भी वर्णन है - वैराज धारणा तथा अन्तर्यामी धारणा । इसे मूर्त और अमूर्त धारणा भी कहा जाता है । तथाहि जब परमात्मा के स्थूल रूप में मन को लगाया जाता है, उसे वैराज धारणा कहा जाता है । जब स्थूल रुप में चित्त को लगाने का अभ्यास हो जाता तब साधक को सूक्ष्म में चित्त को लगाने का अभ्यास करना चाहिए ,इसे ही अन्तर्यामी धारणा कहा जाता है । चूंकि भागवत भक्ति प्रधान है अतः ईश्वर के स्थूल एवं सूक्ष्म स्वरूप के धारणा का विधान यहां किय गया है ।

ध्यान - धारणा के समान ध्यान भी आन्तरंग साधन है । ध्यान की सिद्धि के पश्चात् ही समाधि की प्राप्ति होती है । भागवत में कहा गया है कि -

यदा मनः स्वं विरजं योगेन सुसमाहितम् ।
काष्ठां भगवतो ध्यायेत्स्वनासागावलोकनः ।।[17]

अर्थात् जब योग का अभ्यास करते-करते चित्त निर्मल और एकाग्र हो जाए तब नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके भगवान की मूर्ति का ध्यान करना चाहिए ।

समाधि- समाधि अष्टांगों में सबसे अन्तिम अंग है । भागवत के अनुसार भगवान में पूर्ण भक्ति के साथ चित्त को लगाना समाधि है । भगवत्प्राप्ति समाधि के पूर्ण अवस्था के पश्चात् होती है । यहां वर्णन किया गया है कि - जैसे तेल के समाप्त हो जाने पर दीपशिखा अपने करणरूप तेजस में लीन हो जाती है वैसे ही आश्रय, विषय और राग से रहित होकर मन ।शान्त ब्रह्माकार हो जाता है , इस अवस्था के प्राप्त होने के कारण ध्याता,ध्येय और ध्यान के भेद से रहित होकर एक अखण्ड परमात्मा को ही सर्वत्र देखता है-

मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं
निर्वाणमृच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।
आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यवधानमेकम्
अन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तिगुणप्रवाहः[18] ।।

इस पुराण में समाधि शब्द का प्रयोग तो हुआ है किन्तु पातंजलयोगदर्शन के समान सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि का भेद नहीं किया गया है ।

इस प्रकार श्रीमद्भागवत्पुराण में अष्टांगयोग का विशद विवेचन प्राप्त होता है, जो कि भक्ति के मार्ग में सहायक है ।

सन्दर्भग्रन्थ-सूची -

1-श्रीमद्भागवत्पुराण, गीताप्रेस गोरखपुर 11/13/14
2- अहिंसासत्यास्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः , योगसूत्र 2/30
3- श्रीमद्भागवत्पुराण , 11/19/33
4-श्रीमद्भागवत्पुराण , 11/19/35
5- शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः , योगसूत्र 2/32
6- श्रीमद्भागवत्पुराण 11/19/34
7- योगसूत्र 2/46
8- श्रीमद्भागवत्पुराण, 11/14/31
9- गृहात् प्रव्रजितोधीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतेः।
शुचौ विविक्त आसीनो विधिदत् कल्पितासने ।। श्रीमद्भागवत्पुराण 2/6/16
10- श्रीमद्भागवत्पुराण, (11/19/39)
11- श्रीमद्भागवत्पुराण 3/28/9
12- शिवपुराण, वायवीयसंहिता, उत्तरभाग,37/33
13- अगर्भात् गर्भ संयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
तस्मात् सगर्भ कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ।। शिवपुराण, वायवीयसंहिता, उत्तरभाग,37/34
14- विष्णुपुराण, षष्ठ अंश 7/40
15- श्रीमद्भागवत्पुराण 11/14/42
16- योगसूत्र 3/1
18- श्रीमद्भागवत्पुराण, 3/28/35

समाज में अपराधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण

डॉ. अशोक कुमार खोरवाल*

सारांश :

अपराध मानव समाज की एक जटिल, बहुआयामी तथा गंभीर सामाजिक समस्या है, जो प्रत्येक युग और प्रत्येक समाज में किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। यह केवल विधि–विरुद्ध आचरण या कानूनी नियमों का उल्लंघन मात्र नहीं है, बल्कि सामाजिक संरचना, सांस्कृतिक मान्यताओं, आर्थिक विषमता, पारिवारिक विघटन, शिक्षा की कमी, बेरोजगारी, नगरीकरण, सामाजिक नियंत्रण की दुर्बलता तथा नैतिक मूल्यों के पतन से जुड़ी एक व्यापक सामाजिक प्रक्रिया है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपराध को केवल व्यक्ति की व्यक्तिगत कमजोरी या दोष के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे सामाजिक परिस्थितियों, सामाजिक संस्थाओं की विफलता तथा असमान अवसरों का परिणाम मानता है। प्रस्तुत शोध–पत्र में अपराध की संकल्पना, उसकी प्रमुख विशेषताओं, विभिन्न प्रकारों तथा अपराध को उत्पन्न करने वाले सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों का विस्तृत अध्ययन किया गया है। साथ ही दुर्खीम, मर्टन, सदरलैण्ड, हिर्शी तथा बेकर जैसे प्रमुख समाजशास्त्रियों के सिद्धांतों के माध्यम से अपराध के सामाजिक स्वरूप को समझने का प्रयास किया गया है। शोध–पत्र में भारतीय समाज में महिलाओं के विरुद्ध अपराध, भ्रष्टाचार, साइबर अपराध, बाल अपराध तथा आर्थिक अपराधों की वर्तमान स्थिति का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि अपराध की जड़ें सामाजिक असमानता, अवसरों की कमी तथा कमजोर सामाजिक नियंत्रण में निहित हैं। अतः अपराध–नियंत्रण हेतु केवल दण्ड पर्याप्त नहीं, बल्कि सामाजिक न्याय, गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, रोजगार, पारिवारिक सुदृढ़ता तथा सामुदायिक सहभागिता आवश्यक है।

मुख्य शब्द : अपराध, समाजशास्त्र, सामाजिक विचलन, असमानता, सामाजिक नियंत्रण, दण्ड व्यवस्था आदि।

प्रस्तावना : मानव समाज व्यवस्था, अनुशासन, नैतिकता तथा पारस्परिक सहयोग के आधार पर निर्मित एक संगठित संरचना है। मनुष्य स्वभावतः सामाजिक प्राणी है और वह समाज में रहकर ही अपने जीवन की आवश्यकताओं, इच्छाओं तथा उद्देश्यों की पूर्ति करता है। समाज के सुचारु संचालन, शांति, सुरक्षा और संतुलन को बनाए रखने के लिए प्रत्येक समाज कुछ नियम, मानदंड, मूल्य, परंपराएँ तथा आचार–संहिताएँ निर्मित करता है। ये नियम व्यक्ति के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तथा यह निर्धारित करते हैं कि समाज में कौन–सा आचरण उचित है और कौन–सा अनुचित। जब कोई व्यक्ति, समूह या संस्था इन स्वीकृत नियमों, मानदंडों अथवा विधिक व्यवस्थाओं का उल्लंघन करती है और ऐसा व्यवहार समाज या राज्य द्वारा निषिद्ध माना जाता है,तब उसे अपराध कहा जाता है।[1]

अपराध कोई नवीन या आधुनिक घटना नहीं है, बल्कि यह मानव सभ्यता के प्रारम्भ से किसी न किसी रूप में विद्यमान रहा है। प्राचीन समाजों में भी चोरी, हिंसा, छल, हत्या तथा अन्य प्रकार के सामाजिक उल्लंघनों का उल्लेख मिलता है। समय के साथ समाज का स्वरूप बदला, सामाजिक संस्थाएँ विकसित हुईं, राज्य की स्थापना हुई और विधिक व्यवस्थाएँ अधिक संगठित बनीं, जिसके परिणामस्वरूप अपराध की परिभाषा, स्वरूप तथा नियंत्रण के साधनों में भी परिवर्तन आया। अतः अपराध एक गतिशील अवधारणा है, जो समय, स्थान, संस्कृति तथा सामाजिक परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होती रहती है।[2]

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपराध को केवल कानूनी उल्लंघन के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे सामाजिक संरचना, सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक मूल्यों तथा सामाजिक प्रक्रियाओं से जोड़कर समझता है। समाजशास्त्रियों के अनुसार अपराध केवल व्यक्ति की बुरी प्रवृत्ति या नैतिक कमजोरी का परिणाम नहीं है, बल्कि यह समाज में विद्यमान असमानताओं, अवसरों की कमी, सामाजिक तनाव, पारिवारिक विघटन, बेरोजगारी, निर्धनता, अशिक्षा तथा सामाजिक नियंत्रण की दुर्बलता का परिणाम भी हो सकता है। इसलिए अपराध को समझने के लिए केवल विधिक दृष्टिकोण पर्याप्त नहीं है, बल्कि सामाजिक कारणों का विश्लेषण भी आवश्यक है। किसी समाज में क्या अपराध है, यह सार्वभौमिक रूप से निश्चित नहीं होता।[3] जो व्यवहार एक समाज में स्वीकार्य है, वह दूसरे समाज में अपराध माना जा सकता है। उदाहरणार्थ, कुछ समाजों में मद्यपान सामाजिक रूप से स्वीकृत है, जबकि अन्य समाजों में इसे निषिद्ध या दण्डनीय माना जाता है। इसी प्रकार समय के साथ भी अपराध की धारणा बदलती रहती है। अनेक ऐसे कार्य जो पूर्व में अपराध नहीं माने जाते थे, आज विधि द्वारा निषिद्ध हैंय वहीं कुछ पुराने अपराधों को आधुनिक समाज में वैध मान्यता मिल चुकी है। इससे स्पष्ट होता है कि अपराध एक सामाजिक

* सहायक आचार्य, समाजशास्त्र विभाग, राजकीय महाविद्यालय आहोर, जालोर, राजस्थान

निर्माण है, जो समाज की मान्यताओं और आवश्यकताओं से प्रभावित होता है।[4] वर्तमान युग में अपराध की प्रकृति और स्वरूप दोनों में व्यापक परिवर्तन आया है। पारंपरिक अपराधों जैसे हत्या, चोरी, डकैती और हिंसा के साथ–साथ आधुनिक अपराधों जैसे भ्रष्टाचार, साइबर अपराध, आर्थिक धोखाधड़ी, मानव तस्करी, नशीले पदार्थों का अवैध व्यापार, महिलाओं एवं बच्चों के विरुद्ध अपराध तथा संगठित अपराधों में वृद्धि देखी जा रही है। विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास ने जहाँ मानव जीवन को सरल बनाया है, वहीं अपराधियों को नए साधन भी प्रदान किए हैं। इसके कारण अपराध अधिक जटिल, संगठित और व्यापक रूप धारण कर चुके हैं।[5] अपराधों का प्रभाव केवल पीड़ित व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। इससे सामाजिक भय, असुरक्षा, अविश्वास, आर्थिक हानि, नैतिक पतन तथा सामाजिक विघटन जैसी समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। अपराधों की वृद्धि समाज के विकास, शांति और स्थिरता के लिए गंभीर चुनौती बन जाती है। इसलिए अपराधों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण अत्यंत आवश्यक है, ताकि उनके मूल कारणों को समझकर प्रभावी नियंत्रण उपाय विकसित किए जा सकें। प्रस्तुत शोध–पत्र इसी उद्देश्य से समाज में अपराधों की प्रकृति, कारणों, प्रभावों तथा नियंत्रण के उपायों का विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत करता है।[6]

अपराध की संकल्पना : अपराध वह कृत्य, व्यवहार अथवा कार्य है जिसे समाज, राज्य या विधि द्वारा निषिद्ध घोषित किया गया हो तथा जिसके उल्लंघन पर दण्ड का प्रावधान हो। सरल शब्दों में कहा जाए तो जब कोई व्यक्ति ऐसा कार्य करता है जो सामाजिक व्यवस्था, सार्वजनिक शांति, नैतिक मान्यताओं या कानूनी नियमों के विरुद्ध हो, तब वह अपराध कहलाता है।[7] अपराध केवल किसी व्यक्ति को शारीरिक हानि पहुँचाने तक सीमित नहीं है, बल्कि यह संपत्ति की चोरी, धोखाधड़ी, भ्रष्टाचार, सामाजिक शोषण, नैतिक उल्लंघन तथा राज्य–विरोधी गतिविधियों के रूप में भी प्रकट हो सकता है। इसलिए अपराध की संकल्पना व्यापक और बहुआयामी है। सामान्यतः अपराध को कानूनी दृष्टि से समझा जाता है, जहाँ राज्य द्वारा बनाए गए नियमों का उल्लंघन अपराध माना जाता है। उदाहरणार्थ हत्या, चोरी, बलात्कार, धोखाधड़ी, रिश्वतखोरी और अपहरण जैसे कार्य कानून द्वारा निषिद्ध हैं, इसलिए ये अपराध की श्रेणी में आते हैं। किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण अपराध को केवल कानूनी उल्लंघन के रूप में नहीं देखता, बल्कि उसे सामाजिक विचलन का एक रूप मानता है। सामाजिक विचलन से आशय ऐसे व्यवहार से है जो समाज द्वारा स्वीकृत मानदंडों, मूल्यों और अपेक्षाओं से भिन्न हो। इस दृष्टि से अपराध समाज की संरचना, सामाजिक संबंधों, सांस्कृतिक मूल्यों तथा सामाजिक नियंत्रण की स्थिति से गहराई से जुड़ा हुआ है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री दुर्खीम के अनुसार अपराध प्रत्येक समाज में पाया जाता है और यह एक सामान्य सामाजिक तथ्य है। उनका मत था कि कोई भी समाज पूर्णतः अपराध–मुक्त नहीं हो सकता, क्योंकि समाज में व्यक्तियों की सोच, इच्छाएँ और व्यवहार भिन्न–भिन्न होते हैं। जब समाज में कुछ लोग स्थापित नियमों का उल्लंघन करते हैं, तब अपराध उत्पन्न होता है। दुर्खीम ने यह भी कहा कि अपराध समाज में नैतिक सीमाओं को स्पष्ट करता है तथा कभी–कभी सामाजिक परिवर्तन का मार्ग भी प्रशस्त करता है।

सदरलैण्ड ने अपराध को सामाजिक प्रक्रिया का परिणाम माना। उनके अनुसार अपराधी व्यवहार जन्मजात नहीं होता, बल्कि व्यक्ति इसे अपने परिवेश, संगति और सामाजिक संपर्कों से सीखता है। यदि व्यक्ति अपराधी प्रवृत्ति वाले लोगों के संपर्क में अधिक समय बिताता है, तो उसके अपराधी बनने की संभावना बढ़ जाती है सदरलैण्ड इस सिद्धांत से स्पष्ट होता है कि अपराध व्यक्ति की प्राकृतिक प्रवृत्ति नहीं, बल्कि सीखा हुआ व्यवहार भी हो सकता है।[8] अपराध की संकल्पना समय, स्थान और संस्कृति के अनुसार बदलती रहती है। जो व्यवहार एक समाज में अपराध माना जाता है, वह दूसरे समाज में स्वीकार्य हो सकता है। इसी प्रकार जो कार्य किसी समय अपराध था, वह बाद में वैध भी हो सकता है। अतः अपराध एक स्थिर नहीं, बल्कि परिवर्तनशील सामाजिक अवधारणा है। इस प्रकार स्पष्ट है कि अपराध की संकल्पना केवल कानूनी नहीं, बल्कि सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक तथा मनोवैज्ञानिक पक्षों से भी संबंधित है। अपराध को सही रूप में समझने के लिए इन सभी आयामों का समग्र अध्ययन आवश्यक है।

➢**अपराध की विशेषताएँ :** अपराध एक सामाजिक, कानूनी तथा नैतिक अवधारणा है, जिसकी कुछ प्रमुख विशेषताएँ होती हैं। इन विशेषताओं के आधार पर अपराध को सामान्य व्यवहार से अलग पहचाना जाता है। अपराध केवल नियमों का उल्लंघन नहीं है, बल्कि इसका प्रभाव व्यक्ति, समाज और राज्य तीनों पर पड़ता है। अपराध की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

- अपराध समाज–विरोधी व्यवहार है
- यह विधि द्वारा निषिद्ध होता है
- इसके लिए दण्ड निर्धारित होता है
- अपराध समय और स्थान के अनुसार बदलता है

- अपराध सामाजिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है
- अपराध का प्रभाव व्यक्ति तथा समाज दोनों पर पड़ता है

➢**अपराध के प्रकार :** अपराध समाज में अनेक रूपों में पाए जाते हैं। उनकी प्रकृति, उद्देश्य, प्रभाव तथा पीड़ित के आधार पर अपराधों का वर्गीकरण किया जाता है। अपराधों के प्रकारों को समझना इसलिए आवश्यक है, क्योंकि प्रत्येक अपराध का स्वरूप, कारण और नियंत्रण के उपाय अलग–अलग होते हैं। प्रमुख अपराध निम्नलिखित हैं।

- **व्यक्ति के विरुद्ध अपराध :** ऐसे अपराध जिनमें किसी व्यक्ति के जीवन, शरीर, स्वतंत्रता, सम्मान या मानसिक शांति को हानि पहुँचाई जाती है, व्यक्ति के विरुद्ध अपराध कहलाते हैं। ये अपराध सीधे किसी व्यक्ति को लक्ष्य बनाकर किए जाते हैं। हत्या, हत्या का प्रयास, बलात्कार, अपहरण, मारपीट, घरेलू हिंसा, दहेज उत्पीड़न, तेजाब हमला, धमकी देना तथा यौन उत्पीड़न इसके प्रमुख उदाहरण हैं।इन अपराधों का प्रभाव केवल पीड़ित व्यक्ति तक सीमित नहीं रहता, बल्कि उसके परिवार और समाज पर भी पड़ता है। ऐसे अपराध समाज में भय, असुरक्षा और अविश्वास का वातावरण उत्पन्न करते हैं। महिलाओं, बच्चों तथा वृद्ध व्यक्तियों के विरुद्ध अपराध विशेष रूप से गंभीर माने जाते हैं।[9]
- **संपत्ति के विरुद्ध अपराध :** ऐसे अपराध जिनमें किसी व्यक्ति, संस्था या राज्य की संपत्ति को हानि पहुँचाई जाती है या अवैध रूप से प्राप्त किया जाता है, संपत्ति के विरुद्ध अपराध कहलाते हैं। चोरी, डकैती, लूट, घरफोड़ चोरी, जेबकतरी, वाहन चोरी, धोखाधड़ी, गबन, जालसाजी तथा संपत्ति को नुकसान पहुँचाना इसके प्रमुख उदाहरण हैं। इन अपराधों के कारण लोगों को आर्थिक हानि होती है और समाज में असुरक्षा की भावना बढ़ती है। आधुनिक समय में बैंक धोखाधड़ी, ऑनलाइन ठगी तथा दस्तावेजों की जालसाजी भी इसी श्रेणी में आती है।
- **राज्य के विरुद्ध अपराध :** ऐसे अपराध जो राष्ट्र की सुरक्षा, संप्रभुता, प्रशासनिक व्यवस्था या सार्वजनिक हित के विरुद्ध किए जाते हैं, राज्य के विरुद्ध अपराध कहलाते हैं। देशद्रोह, आतंकवाद, जासूसी, विद्रोह, कर चोरी, नकली मुद्रा बनाना, प्रशासनिक भ्रष्टाचार, सरकारी संपत्ति को नुकसान पहुँचाना तथा संवेदनशील सूचनाओं का दुरुपयोग इसके उदाहरण हैं। ये अपराध अत्यंत गंभीर माने जाते हैं, क्योंकि इनसे पूरे राष्ट्र की स्थिरता, सुरक्षा और विकास प्रभावित होता है। राज्य के विरुद्ध अपराधों पर सामान्यतः कठोर दण्ड का प्रावधान होता है।
- **नैतिक अपराध :** ऐसे अपराध जो समाज की नैतिक मान्यताओं, सामाजिक मूल्यों तथा सार्वजनिक शिष्टाचार के विरुद्ध माने जाते हैं, नैतिक अपराध कहलाते हैं। वेश्यावृत्ति, जुआ, अश्लील सामग्री का अवैध प्रसार, मादक पदार्थों का अवैध व्यापार, सार्वजनिक स्थानों पर अनुचित व्यवहार आदि इसके उदाहरण हैं। इन अपराधों का प्रभाव समाज के नैतिक वातावरण पर पड़ता है। विशेष रूप से युवाओं पर इनके नकारात्मक प्रभाव देखे जाते हैं। हालांकि नैतिक अपराधों की परिभाषा विभिन्न समाजों और संस्कृतियों में अलग–अलग हो सकती है।
- **बाल अपराध :** कम आयु के बच्चों या किशोरों द्वारा किए गए अपराध बाल अपराध कहलाते हैं। चोरी, विद्यालय से भागना, नशे की लत, झगड़ा, हिंसा, गिरोह में शामिल होना, तोड़फोड़ तथा अन्य अवैध गतिविधियाँ इसके उदाहरण हैं। बाल अपराधों के पीछे पारिवारिक विघटन, अभिभावकों की उपेक्षा, गलत संगति, गरीबी, अशिक्षा, नशाखोरी तथा मीडिया का प्रभाव जैसे कारण पाए जाते हैं। बाल अपराधियों के साथ सुधारात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है, क्योंकि उनका व्यक्तित्व अभी विकासशील अवस्था में होता है।

➢ **अपराध के समाजशास्त्रीय कारण :** अपराध केवल व्यक्तिगत प्रवृत्ति या नैतिक कमजोरी का परिणाम नहीं है, बल्कि यह समाज की संरचना, सामाजिक संबंधों, आर्थिक परिस्थितियों तथा सांस्कृतिक प्रभावों से गहराई से जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के अनुसार अपराध सामाजिक परिस्थितियों से उत्पन्न होता है। जब समाज में असमानता, तनाव, अवसरों की कमी और नियंत्रण व्यवस्था कमजोर होती है, तब अपराध बढ़ने लगते हैं। अपराध के प्रमुख समाजशास्त्रीय कारण निम्नलिखित हैं–

- **आर्थिक असमानता :** आर्थिक असमानता अपराध का एक प्रमुख कारण है। जब समाज में धन, संसाधनों और अवसरों का वितरण समान नहीं होता, तब एक वर्ग अत्यधिक समृद्ध हो जाता है जबकि दूसरा वर्ग निर्धनता, अभाव और वंचना का जीवन जीता है। ऐसी स्थिति में गरीब और वंचित वर्ग के लोगों में असंतोष, निराशा और हीनभावना उत्पन्न होती है। जब व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति वैध साधनों से नहीं कर पाता, तब वह चोरी, लूट, डकैती, तस्करी, धोखाधड़ी और अन्य अवैध कार्यों की ओर आकर्षित हो सकता है। मर्टन ने अपने तनाव सिद्धांत में कहा कि समाज सभी को सफलता का लक्ष्य देता है, परंतु सभी को वैध साधन उपलब्ध नहीं कराता। यही लक्ष्य और साधनों का असंतुलन अपराध को जन्म देता है।[10] अत्यधिक आर्थिक विषमता समाज में वर्ग संघर्ष, सामाजिक तनाव और असुरक्षा को भी बढ़ाती है।
- **बेरोजगारी :** बेरोजगारी अपराध का एक महत्वपूर्ण सामाजिक कारण है। जब व्यक्ति को शिक्षा प्राप्त करने के बाद भी रोजगार नहीं मिलता, तब उसमें निराशा, तनाव, कुंठा और असंतोष उत्पन्न होता है। विशेष रूप से

युवाओं में बेरोजगारी अपराधी गतिविधियों को बढ़ा सकती है। रोजगार के अभाव में व्यक्ति अपनी मूलभूत आवश्यकताओं जैसे भोजन, वस्त्र, आवास और परिवार की जिम्मेदारियों को पूरा करने में असमर्थ हो जाता है।

- **पारिवारिक विघटन :** परिवार समाजीकरण की प्रथम और सबसे महत्वपूर्ण संस्था है। बच्चा सबसे पहले परिवार से ही भाषा, नैतिकता, अनुशासन, व्यवहार तथा सामाजिक मूल्य सीखता है। यदि परिवार में प्रेम, सुरक्षा और अनुशासन का वातावरण न हो, तो बच्चों के व्यक्तित्व पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है।
- **शिक्षा का अभाव :** शिक्षा व्यक्ति के बौद्धिक, नैतिक और सामाजिक विकास का आधार है। शिक्षा व्यक्ति को सही और गलत में अंतर करना सिखाती है, अनुशासन प्रदान करती है तथा जीवन में वैध साधनों से सफलता प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। जब समाज में अशिक्षा अधिक होती है, तब लोग अपने अधिकारों, कर्तव्यों, कानूनों और नैतिक मूल्यों से अनभिज्ञ रहते हैं। अशिक्षित व्यक्ति आसानी से गलत संगति, अंधविश्वास, शोषण या अपराधी गतिविधियों का शिकार हो सकता है।शिक्षा के अभाव में रोजगार के अवसर भी सीमित हो जाते हैं, जिससे अपराध की संभावना और बढ़ जाती है।[11]
- **नगरीकरण और औद्योगीकरण** : तेजी से बढ़ते नगरीकरण और औद्योगीकरण ने समाज में अनेक परिवर्तन लाए हैं। गाँवों से शहरों की ओर पलायन, जनसंख्या दबाव, आवास की कमी, झुग्गियों का विस्तार, बेरोजगारी तथा संसाधनों पर दबाव जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं।शहरों में व्यक्ति अक्सर सामाजिक संबंधों से कट जाता है और अकेलेपन या सामाजिक अलगाव का अनुभव करता है। प्रतिस्पर्धा, भौतिकवाद और तेज जीवनशैली के कारण तनाव बढ़ता है।
- **नशाखोरी :** मद्यपान, मादक पदार्थों का सेवन तथा नशे की लत अपराध को बढ़ाने वाला गंभीर कारण है। नशा व्यक्ति की सोचने–समझने की क्षमता को कमजोर कर देता है और आत्म–नियंत्रण कम कर देता है। नशे की अवस्था में व्यक्ति हिंसक, आक्रामक या अनैतिक व्यवहार कर सकता है। घरेलू हिंसा, सड़क दुर्घटनाएँ, मारपीट, हत्या और यौन अपराधों में नशे की भूमिका अक्सर पाई जाती है। जब व्यक्ति नशे का आदी हो जाता है, तब नशे की पूर्ति के लिए वह चोरी, लूट, अवैध व्यापार या अन्य अपराध कर सकता है। इस प्रकार नशाखोरी व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हानिकारक है।
- **मीडिया और तकनीकी प्रभाव :** आधुनिक युग में मीडिया और तकनीक का समाज पर गहरा प्रभाव है। चलचित्र, दूरदर्शन, सामाजिक माध्यम, इंटरनेट और डिजिटल मंच लोगों के विचारों और व्यवहार को प्रभावित करते हैं। यदि इन माध्यमों में हिंसा, अश्लीलता, त्वरित धनार्जन, अपराधी जीवनशैली या अनैतिक सफलता को आकर्षक रूप में प्रस्तुत किया जाए, तो कुछ लोग उससे प्रभावित हो सकते हैं।[12] युवा वर्ग विशेष रूप से अनुकरण की प्रवृत्ति रखता है। हिंसक दृश्य, अपराध संबंधी सामग्री या गलत आदर्श उनके व्यवहार पर नकारात्मक प्रभाव डाल सकते हैं। तकनीकी विकास ने साइबर अपराधों को भी जन्म दिया है, जैसे पहचान चोरी, ऑनलाइन ठगी, बैंक धोखाधड़ी, गुप्त जानकारी की चोरी और डिजिटल उत्पीड़न। इसलिए तकनीकी प्रगति के साथ अपराधों के नए रूप भी सामने आए हैं।

➢ **अपराध के प्रमुख समाजशास्त्रीय सिद्धांत :** अपराध को समझने के लिए समाजशास्त्रियों ने विभिन्न सिद्धांत प्रस्तुत किए हैं। ये सिद्धांत बताते हैं कि अपराध केवल व्यक्तिगत इच्छा या नैतिक कमजोरी का परिणाम नहीं है, बल्कि सामाजिक संरचना, सामाजिक संबंधों, अवसरों की असमानता तथा समाज की प्रतिक्रिया से भी जुड़ा हुआ है। प्रमुख समाजशास्त्रीय सिद्धांत निम्नलिखित हैं–

- **दुर्खीम का सिद्धांत :** प्रसिद्ध समाजशास्त्री इमाइल दुर्खीम ने अपराध को एक सामान्य सामाजिक तथ्य माना। उनके अनुसार अपराध हर समाज में पाया जाता है और कोई भी समाज पूर्णतः अपराध–मुक्त नहीं हो सकता। समाज में विभिन्न प्रकार के लोग रहते हैं, जिनकी सोच, इच्छाएँ, आवश्यकताएँ और व्यवहार अलग–अलग होते हैं। इसलिए कुछ लोग सामाजिक नियमों और मानदंडों का उल्लंघन करते हैं, जिससे अपराध उत्पन्न होता है।[13] दुर्खीम का मानना था कि अपराध केवल नकारात्मक घटना नहीं है, बल्कि यह समाज के लिए कुछ सकारात्मक कार्य भी करता है। जब कोई अपराध होता है, तब समाज उस कृत्य की निंदा करता है और इस प्रक्रिया में समाज के नैतिक मूल्य तथा सीमाएँ और स्पष्ट हो जाती हैं। उन्होंने यह भी कहा कि अपराध सामाजिक परिवर्तन में सहायक हो सकता है। कई बार जो कार्य प्रारम्भ में अपराध माना जाता है, वही बाद में सामाजिक सुधार का कारण बन जाता है। इस प्रकार दुर्खीम ने अपराध को समाज की सामान्य और आवश्यक प्रक्रिया के रूप में देखा।
- **तनाव सिद्धांत :** रॉबर्ट के. मर्टन ने अपराध को समझाने के लिए तनाव सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार प्रत्येक समाज अपने सदस्यों के सामने सफलता, धन, प्रतिष्ठा और उच्च जीवन स्तर जैसे लक्ष्य प्रस्तुत करता है। समाज यह संदेश देता है कि सभी व्यक्तियों को सफल होना चाहिए। किन्तु समस्या तब उत्पन्न होती है जब समाज के सभी लोगों को इन लक्ष्यों को प्राप्त करने के वैध साधन समान रूप से उपलब्ध नहीं होते। निर्धनता, बेरोजगारी,

शिक्षा की कमी, जातीय भेदभाव या अवसरों की असमानता के कारण बहुत से लोग वैध मार्ग से सफलता प्राप्त नहीं कर पाते। ऐसी स्थिति में व्यक्ति के भीतर तनाव, निराशा और असंतोष उत्पन्न होता है।[14]

- **विभेदात्मक संसर्ग सिद्धांत :** एडविन एच. सदरलैण्ड ने विभेदात्मक संसर्ग सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार अपराधी व्यवहार जन्मजात नहीं होता, बल्कि सीखा जाता है। व्यक्ति परिवार, मित्रों, पड़ोस, कार्यस्थल और सामाजिक समूहों के संपर्क में रहकर व्यवहार सीखता है। यदि कोई व्यक्ति ऐसे लोगों की संगति में अधिक समय बिताता है जो अपराध को उचित मानते हैं या स्वयं अपराध करते हैं, तो वह भी अपराधी व्यवहार सीख सकता है।[15] वह अपराध करने के तरीके, तर्क, औचित्य और तकनीक सब कुछ सीख लेता है।
- **सामाजिक नियंत्रण सिद्धांत :** ट्रैविस हिर्शी ने सामाजिक नियंत्रण सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार मनुष्य में स्वार्थपूर्ण या विचलित व्यवहार की संभावना स्वाभाविक रूप से हो सकती है, किन्तु समाज के साथ मजबूत संबंध व्यक्ति को अपराध करने से रोकते हैं। जब व्यक्ति का परिवार, विद्यालय, समुदाय और समाज से लगाव मजबूत होता है, तब वह सामाजिक नियमों का पालन करता है।16 यदि व्यक्ति का समाज से भावनात्मक संबंध कमजोर हो जाए, नियमों पर विश्वास समाप्त हो जाए और जिम्मेदारियों के प्रति प्रतिबद्धता घट जाए, तब अपराध की संभावना बढ़ जाती है।
- **लेबलिंग सिद्धांत :** हावर्ड एस. बेकर ने लेबलिंग सिद्धांत प्रस्तुत किया। उनके अनुसार अपराध केवल व्यक्ति के व्यवहार से निर्धारित नहीं होता, बल्कि समाज की प्रतिक्रिया से भी तय होता है। जब समाज किसी व्यक्ति को अपराधी, बिगड़ा हुआ या असामाजिक कहकर चिन्हित कर देता है, तो यह पहचान उसके व्यक्तित्व पर प्रभाव डालती है। यदि किसी किशोर से छोटी गलती हो जाए और समाज उसे बार–बार अपराधी कहे, तो वह स्वयं को वैसा ही मानने लग सकता है।[17]

➢ **भारतीय समाज में अपराध की स्थिति :** भारत एक विशाल, विविधतापूर्ण तथा बहुसांस्कृतिक देश है, जहाँ सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, भाषाई तथा क्षेत्रीय विविधताएँ पाई जाती हैं। तीव्र जनसंख्या वृद्धि, नगरीकरण, बेरोजगारी, आर्थिक असमानता, शिक्षा की कमी, सामाजिक तनाव तथा प्रशासनिक चुनौतियों के कारण भारत में अपराध के अनेक रूप देखने को मिलते हैं।[18] आधुनिक भारत में पारंपरिक अपराधों के साथ–साथ नए प्रकार के अपराध भी तेजी से बढ़ रहे हैं। भारतीय समाज में अपराध की स्थिति को निम्न बिंदुओं के माध्यम से समझा जा सकता है।

- **महिलाओं के विरुद्ध अपराध :** भारतीय समाज में महिलाओं के विरुद्ध अपराध एक गंभीर सामाजिक समस्या है। इसमें घरेलू हिंसा, दहेज उत्पीड़न, बलात्कार, छेड़छाड़, कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न, पीछा करना, तेजाब हमला, अपहरण तथा मानसिक प्रताड़ना जैसे अपराध शामिल हैं। ऐसे अपराध महिलाओं की गरिमा, स्वतंत्रता और सुरक्षा पर सीधा आघात करते हैं। ग्रामीण तथा शहरी दोनों क्षेत्रों में यह समस्या विद्यमान है। कई मामलों में सामाजिक दबाव, पारिवारिक प्रतिष्ठा, भय और न्यायिक प्रक्रिया की जटिलता के कारण महिलाएँ शिकायत दर्ज नहीं करातीं। महिलाओं के विरुद्ध अपराध समाज में लैंगिक असमानता, पितृसत्तात्मक सोच और कमजोर सामाजिक चेतना को भी दर्शाते हैं।
- **दहेज हत्या :** दहेज प्रथा भारतीय समाज की पुरानी सामाजिक कुरीतियों में से एक है। विवाह के समय वर पक्ष द्वारा धन, वाहन, आभूषण, संपत्ति या अन्य वस्तुओं की मांग की जाती है। जब यह मांग पूरी नहीं होती, तब अनेक महिलाओं को मानसिक और शारीरिक प्रताड़ना दी जाती है। कई मामलों में उत्पीड़न इतना बढ़ जाता है कि महिलाओं की हत्या कर दी जाती है या उन्हें आत्महत्या के लिए मजबूर किया जाता है। इसे दहेज हत्या कहा जाता है। यह अपराध विशेष रूप से विवाह संस्था और मानवता दोनों के लिए कलंक है। दहेज हत्या महिलाओं की असुरक्षा तथा समाज में व्याप्त लालच और भेदभाव को उजागर करती है।
- **बाल श्रम और बाल तस्करी :** बाल श्रम वह स्थिति है जिसमें बच्चों से कम आयु में मजदूरी या कठिन कार्य कराया जाता है। अनेक बच्चे कारखानों, दुकानों, ढाबों, घरों, निर्माण स्थलों तथा खतरनाक उद्योगों में कार्य करते पाए जाते हैं। इससे उनका शारीरिक, मानसिक और शैक्षिक विकास प्रभावित होता है। बाल तस्करी में बच्चों को धोखे, लालच या बलपूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाकर उनसे मजदूरी, भीख मंगवाने, यौन शोषण या अवैध कार्य कराए जाते हैं। गरीबी, अशिक्षा, बेरोजगारी, पारिवारिक विघटन तथा कमजोर कानून–पालन व्यवस्था इसके प्रमुख कारण हैं। यह अपराध बच्चों के भविष्य को नष्ट कर देता है।
- **भ्रष्टाचार :** भ्रष्टाचार भारत की प्रमुख प्रशासनिक और सामाजिक समस्याओं में से एक है। जब कोई व्यक्ति अपने पद, अधिकार या शक्ति का निजी लाभ के लिए दुरुपयोग करता है, तो उसे भ्रष्टाचार कहा जाता है। रिश्वत लेना, अनुचित लाभ देना, सरकारी धन का दुरुपयोग, फर्जी बिल, पद का दुरुपयोग तथा अनुचित नियुक्तियाँ इसके उदाहरण हैं। भ्रष्टाचार के कारण विकास योजनाएँ प्रभावित होती हैं, जनता का विश्वास कम होता है और गरीब वर्ग को अधिक नुकसान उठाना पड़ता है। यह आर्थिक असमानता और प्रशासनिक अक्षमता को बढ़ाता है। भ्रष्टाचार समाज में नैतिक पतन का भी संकेत है।

- **जातीय एवं साम्प्रदायिक हिंसा :** भारत में जाति और धर्म के आधार पर होने वाली हिंसा भी गंभीर अपराध है। जातीय हिंसा में निम्न जातियों या कमजोर वर्गों पर अत्याचार, सामाजिक बहिष्कार, मारपीट और भेदभाव शामिल हैं। साम्प्रदायिक हिंसा में दो धार्मिक समुदायों के बीच तनाव, दंगे, आगजनी, हत्या, लूट और संपत्ति का नुकसान होता है। ऐसी घटनाएँ सामाजिक एकता और राष्ट्रीय सद्भावना को कमजोर करती हैं। राजनीतिक स्वार्थ, अफवाहें, असहिष्णुता, सामाजिक असमानता और उकसावे वाली गतिविधियाँ इसके प्रमुख कारण हैं।
- **साइबर अपराध :** तकनीकी विकास के साथ भारत में साइबर अपराध तेजी से बढ़े हैं। इसमें ऑनलाइन ठगी, बैंक खातों से धन चोरी, पहचान चोरी, मोबाइल संदेश धोखाधड़ी, सामाजिक माध्यम पर उत्पीड़न, गुप्त जानकारी चुराना, झूठी सूचना फैलाना तथा डिजिटल ब्लैकमेल जैसे अपराध शामिल हैं। साइबर अपराधों का सबसे बड़ा खतरा यह है कि अपराधी दूर बैठकर भी अपराध कर सकता है।19 डिजिटल साक्षरता की कमी और तकनीकी जानकारी के अभाव में आम लोग आसानी से शिकार बन जाते हैं। आज के समय में साइबर सुरक्षा एक महत्वपूर्ण राष्ट्रीय आवश्यकता बन चुकी है।

➢ **अपराध का सामाजिक प्रभाव :** अपराध केवल कानून तोड़ने की घटना नहीं है, बल्कि इसका प्रभाव पूरे समाज पर पड़ता है। जब किसी समाज में अपराध बढ़ते हैं, तब सामाजिक व्यवस्था, आर्थिक विकास, नैतिक मूल्यों तथा लोगों के मानसिक स्वास्थ्य पर गंभीर प्रभाव दिखाई देता है। अपराध समाज में असंतुलन, असुरक्षा तथा अविश्वास की भावना उत्पन्न करता है। अपराध के प्रमुख सामाजिक प्रभाव निम्नलिखित हैं–

- **सामाजिक विघटन** : अपराध बढ़ने से समाज में पारस्परिक विश्वास, सहयोग और एकता कमजोर होने लगती है। जब लोग एक–दूसरे पर संदेह करने लगते हैं, तब सामाजिक संबंध कमजोर हो जाते हैं।[20] पड़ोस, समुदाय और परिवार के भीतर भी अविश्वास की भावना विकसित हो सकती है। अपराध के कारण लोग सामूहिक गतिविधियों से दूर होने लगते हैं और सामाजिक मेल–जोल कम हो जाता है। इस प्रकार अपराध सामाजिक एकता को तोड़ता है और समाज में विघटन की स्थिति उत्पन्न करता है।
- **नैतिक पतन :** जब समाज में अपराधी दण्ड से बच जाते हैं या उन्हें राजनीतिक, आर्थिक अथवा सामाजिक संरक्षण मिल जाता है, तब लोगों का कानून और न्याय व्यवस्था पर विश्वास कम होने लगता है। ऐसी स्थिति में कुछ लोग यह सोचने लगते हैं कि ईमानदारी और नैतिकता का कोई महत्व नहीं है। इससे रिश्वत, छल, झूठ, भ्रष्टाचार और अनैतिक व्यवहार को बढ़ावा मिलता है।[21] धीरे–धीरे समाज के नैतिक मूल्य कमजोर पड़ने लगते हैं और सही–गलत का अंतर धुंधला होने लगता है।
- **पीड़ितों पर मानसिक प्रभाव :** अपराध का सबसे गहरा प्रभाव पीड़ित व्यक्ति और उसके परिवार पर पड़ता है। अपराध का शिकार व्यक्ति शारीरिक हानि के साथ–साथ मानसिक आघात भी सहता है। ऐसे लोग तनाव, भय, अवसाद, असुरक्षा, आत्मविश्वास की कमी, नींद की समस्या तथा सामाजिक अलगाव का अनुभव कर सकते हैं।[22] विशेष रूप से यौन अपराध, घरेलू हिंसा, धोखाधड़ी या अपहरण जैसी घटनाएँ लंबे समय तक मानसिक पीड़ा देती हैं। कई बार पीड़ित व्यक्ति सामान्य जीवन में लौटने में कठिनाई महसूस करता है। इसलिए अपराध पीड़ितों के पुनर्वास और मानसिक सहायता की आवश्यकता होती है।

➢**अपराध नियंत्रण के उपाय :** अपराध नियंत्रण केवल दण्ड देने से संभव नहीं है। इसके लिए सामाजिक, शैक्षिक, आर्थिक और प्रशासनिक स्तर पर समन्वित प्रयास आवश्यक हैं। यदि समाज में अवसर, न्याय और जागरूकता बढ़ेगी, तो अपराधों में कमी लाई जा सकती है। प्रमुख उपाय निम्नलिखित हैं–

- **गुणवत्तापूर्ण शिक्षा :** शिक्षा अपराध रोकने का सबसे प्रभावी साधन है। शिक्षा व्यक्ति को नैतिकता, अनुशासन, सामाजिक उत्तरदायित्व और सही–गलत का ज्ञान देती है। विद्यालयों में नैतिक शिक्षा, नागरिक शिक्षा, कानून की जानकारी तथा कौशल शिक्षा प्रदान की जानी चाहिए। शिक्षित व्यक्ति रोजगार के बेहतर अवसर प्राप्त करता है और अवैध मार्गों की ओर कम आकर्षित होता है। विशेष रूप से युवाओं को मूल्य आधारित शिक्षा देना अत्यंत आवश्यक है।
- **रोजगार सृजन :** बेरोजगारी अपराध का प्रमुख कारण है। जब युवाओं को सम्मानजनक रोजगार नहीं मिलता, तब उनमें निराशा और असंतोष उत्पन्न होता है। सरकार और समाज को उद्योग, स्वरोजगार, लघु उद्यम, कृषि आधारित कार्य तथा कौशल विकास योजनाओं के माध्यम से रोजगार के अवसर बढ़ाने चाहिए। रोजगार मिलने से व्यक्ति आर्थिक रूप से सक्षम बनता है और अपराध की ओर जाने की संभावना घटती है।
- **न्यायिक सुधार :** यदि अपराधी को शीघ्र और निष्पक्ष दण्ड मिलता है, तो अपराध करने वालों में भय उत्पन्न होता है। न्याय में अत्यधिक देरी होने से अपराधियों का मनोबल बढ़ सकता है। इसलिए न्यायालयों में लंबित मामलों को शीघ्र निपटाना, सरल प्रक्रिया अपनाना, पीड़ितों को सहायता देना तथा निष्पक्ष निर्णय सुनिश्चित करना आवश्यक है। त्वरित न्याय अपराध नियंत्रण का प्रभावी साधन है।

- **नशामुक्ति अभियान :** मादक पदार्थों का सेवन अनेक अपराधों का कारण बनता है। नशाखोरी से हिंसा, चोरी, घरेलू उत्पीड़न तथा अवैध व्यापार बढ़ते हैं। सरकार को नशीले पदार्थों के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करनी चाहिए तथा पुनर्वास केंद्रों की स्थापना करनी चाहिए। युवाओं में जागरूकता अभियान चलाकर नशे के दुष्परिणाम बताए जाने चाहिए। नशामुक्त समाज अपराध–मुक्त समाज की दिशा में महत्वपूर्ण कदम है।
- **सामुदायिक सहभागिता :** अपराध नियंत्रण केवल सरकार या पुलिस का कार्य नहीं है, बल्कि पूरे समाज की जिम्मेदारी है। स्थानीय समुदाय, विद्यालय, स्वयंसेवी संस्थाएँ, धार्मिक संगठन और नागरिक समाज मिलकर अपराध रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकते हैं। मोहल्ला सुरक्षा समितियाँ, जागरूकता अभियान, युवा मार्गदर्शन कार्यक्रम, महिला सुरक्षा समूह तथा सामाजिक निगरानी जैसी गतिविधियाँ प्रभावी हो सकती हैं। जब समाज स्वयं सजग और संगठित होता है, तब अपराधों पर प्रभावी नियंत्रण संभव होता है।

निष्कर्ष : राष्ट्रीय अपराध अभिलेखों के अनुसार महिलाओं के विरुद्ध अपराध, साइबर अपराध तथा आर्थिक अपराधों में वृद्धि देखी गई है। **(राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो, 2023)** इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय समाज में अपराध की प्रकृति बदल रही है और पारंपरिक अपराधों के साथ आधुनिक अपराध भी बढ़ रहे हैं। अतः कठोर कानून, त्वरित न्याय, नैतिक शिक्षा, तकनीकी सुरक्षा, सामाजिक जागरूकता तथा प्रशासनिक पारदर्शिता द्वारा इन अपराधों पर नियंत्रण आवश्यक है। समाज में अपराध केवल व्यक्तिगत नैतिक कमजोरी का परिणाम नहीं है, बल्कि सामाजिक संरचना, आर्थिक विषमता, सांस्कृतिक तनाव, पारिवारिक विघटन और सामाजिक नियंत्रण की दुर्बलता से उत्पन्न जटिल सामाजिक समस्या है। समाजशास्त्रीय विश्लेषण यह स्पष्ट करता है कि अपराधी व्यक्ति समाज से पृथक नहीं होता, बल्कि उसी समाज की परिस्थितियों का उत्पाद होता है। अतः अपराध नियंत्रण के लिए केवल दण्ड देना पर्याप्त नहीं है। आवश्यक है कि समाज में समान अवसर, शिक्षा, रोजगार, सामाजिक न्याय, नैतिक मूल्यों का विकास तथा सशक्त संस्थाएँ निर्मित की जाएँ। जब समाज समावेशी, न्यायपूर्ण और उत्तरदायी बनेगा, तभी अपराधों में वास्तविक कमी लाई जा सकेगी।

सन्दर्भ :

1. बेकर, एच. एस. (1963). बाहरी लोगः विचलन का समाजशास्त्र. न्यूयॉर्क, फ्री प्रेस
2. बोंगर, डब्ल्यू. ए. (1916). अपराध और आर्थिक दशाएँ. बोस्टनः लिटल ब्राउन
3. कोहेन, ए. के. (1955). अपराधी उपसंस्कृति. न्यूयॉर्कः फ्री प्रेस
4. दुर्खीम, ई. (1982). समाजशास्त्रीय पद्धति के नियम (मूल कृति 1895). न्यूयॉर्कः फ्री प्रेस
5. दुर्खीम, ई. (1964). श्रम विभाजन का सिद्धांत (मूल कृति 1893). न्यूयॉर्कः फ्री प्रेस
6. फूको, एम. (1977). अनुशासन और दण्ड, न्यूयॉर्क, पैंथियन
7. गिडेन्स, ए. (2001). समाजशास्त्र. कैम्ब्रिज, पॉलिटी प्रेस
8. गोस्वामी, बी. एल. (2018), भारतीय समाज में अपराध की प्रवृत्तियाँ. नई दिल्लीः रावत प्रकाशन।
9. हिर्शी, टी. (1969), अपराध के कारण. बर्कलेः कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय प्रेस।
10. जैन, पी. सी. (2019), भारतीय सामाजिक समस्याएँ. जयपुरः साहित्यागार।
11. कापाड़िया, के. एम. (2005), भारतीय समाज और सामाजिक संस्थाएँ, मुंबईः लोकप्रिय प्रकाशन।
12. मर्टन, आर. के. (1938), सामाजिक संरचना और अराजकता. अमेरिकी समाजशास्त्रीय समीक्षा, 3(5), 672–682
13. राष्ट्रीय अपराध अभिलेख ब्यूरो. (2023), भारत में अपराध रिपोर्ट. नई दिल्लीः भारत सरकार।
14. पार्क, आर. ई., एवं बर्गेस, ई. डब्ल्यू. (1925), नगर और सामाजिक जीवन. शिकागो, शिकागो विश्वविद्यालय प्रेस
15. रेकलैस, डब्ल्यू. सी. (1973). अपराध समस्या. न्यूयॉर्क, एप्पलटन
16. शर्मा, आर. एन. (2017), अपराधशास्त्र के सिद्धांत. नई दिल्लीः अटलांटिक प्रकाशन
17. सिंह, योगेन्द्र. (2010), भारतीय समाजः संरचना और परिवर्तन. नई दिल्लीः रावत प्रकाशन।
18. सदरलैण्ड, ई. एच. (1947), अपराधशास्त्र के सिद्धांत. फिलाडेल्फिया, लिपिनकॉट
19. सदरलैण्ड, ई. एच., एवं क्रेसी, डी. आर. (1978). अपराधशास्त्र. फिलाडेल्फिया, लिपिनकॉट
20. थॉमस, डब्ल्यू. आई. (1966), सामाजिक व्यवहार और विचलन, न्यूयॉर्क, हार्पर एंड रो
21. त्रिपाठी, एस. एन. (2021), भारतीय समाज में अपराध और नियंत्रण, वाराणसी, विश्वविद्यालय प्रकाशन
22. वर्मा, वी. पी. (2016), सामाजिक समस्याएँ और समाधान. इलाहाबाद, लोकभारती प्रकाशन

ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी : परम्परा, संरचना और विशिष्टता

राधा सिंह*
डॉ. रंजना द्विवेदी**

शोध सारांश-

प्रस्तुत शोध आलेख में भारतीय शास्त्रीय संगीत की ख्याल गायकी परम्परा के अंतर्गत ग्वालियर घराने की ऐतिहासिक, सांगीतिक एवं शैलीगत विशेषताओं का विस्तृत अध्ययन किया गया है। भारतीय संगीत की गुरु-शिष्य परम्परा ने जिस प्रकार संगीत की मौलिकता और शास्त्रीयता को संरक्षित रखा, उसी परम्परा में ग्वालियर घराने ने ख्याल गायकी को एक सुदृढ़ और व्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया। इस अध्ययन में यह स्पष्ट किया गया है कि ग्वालियर घराने की गायकी ध्रुपद परम्परा से प्रभावित होते हुए भी अपनी स्वतंत्र पहचान रखती है। इसकी प्रस्तुति में राग-शुद्धता, संतुलित लय, स्पष्ट स्वर-उच्चारण, अनुशासित बंदिशें तथा क्रमबद्ध राग-विस्तार को अत्यधिक महत्व दिया जाता है।

शोध में ग्वालियर घराने की बंदिश-प्रधान परम्परा, आलाप, बोल-आलाप, बोल-तान, गमकयुक्त तानों तथा रागांग प्रस्तुति का विश्लेषण किया गया है। यह भी प्रतिपादित किया गया है कि इस घराने की गायकी में सरलता और गंभीरता का अद्वितीय समन्वय दिखाई देता है। ग्वालियर शैली की तुलना आगरा, जयपुर, किराना, पटियाला तथा दिल्ली घरानों से करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक घराने की अपनी विशिष्ट सांगीतिक दृष्टि होते हुए भी ग्वालियर घराना अपनी प्राचीनता, शास्त्रीय अनुशासन और संतुलित प्रस्तुति के कारण विशेष स्थान रखता है।

अध्ययन में यह भी उल्लेखित है कि ग्वालियर घराने की गायकी केवल तकनीकी दृष्टि से ही महत्वपूर्ण नहीं है, बल्कि उसकी सौंदर्यपरकता और श्रवणीयता ने उसे जनमानस में भी अत्यंत लोकप्रिय बनाया है। तानपुरा, तबला, सारंगी तथा बेला जैसे वाद्यों की संगत, मींड और गमक का प्रयोग तथा बुलंद और खुली आवाज की परम्परा इस शैली को विशिष्ट बनाती है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध आलेख ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी को भारतीय शास्त्रीय संगीत की एक अनुशासित, प्रभावशाली एवं सर्वमान्य परम्परा के रूप में स्थापित करता है।

शब्द कुंजी- ग्वालियर घराना, ख्याल गायकी, गुरु-शिष्य परम्परा, राग-शुद्धता, बंदिश परम्परा।

भारतीय शास्त्रीय संगीत की समृद्ध परम्परा का संरक्षण और विकास मुख्यतः गुरु-शिष्य परम्परा के माध्यम से संभव हुआ है। यही परम्परा भारतीय संगीत को पीढ़ी दर पीढ़ी जीवित रखते हुए उसमें नवीनता का समावेश भी करती रही है। संगीत की किसी भी शैली की स्थायित्व शक्ति उसकी परम्परागत जड़ों और समयानुकूल परिवर्तनशीलता में निहित होती है। भारतीय संगीत के विभिन्न घरानों में ख्याल गायकी की अनेक शैलियाँ विकसित हुईं, परन्तु उनमें ग्वालियर घराने को विशेष प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसका आशय यह नहीं कि अन्य घराने महत्वहीन हैं, बल्कि प्रत्येक घराने की अपनी स्वतंत्र शैली, सौन्दर्य-बोध और प्रस्तुति-पद्धति है। तथापि ग्वालियर घराने की ख्याल गायकी अपनी संतुलित संरचना, राग-शुद्धता, स्पष्टता और अनुशासित प्रस्तुति के कारण सर्वाधिक प्रभावशाली मानी जाती है।

ग्वालियर घराने की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि इसकी ख्याल गायकी का आधार ध्रुपद परम्परा रही है। इस घराने में ख्याल प्रस्तुति ध्रुपद की गंभीरता और शास्त्रीय अनुशासन से अनुप्राणित दिखाई देती है। यहाँ राग-विस्तार को अत्यधिक विस्तारपूर्ण न बनाकर, राग के मुख्य स्वरांगों को संक्षिप्त और प्रभावी रूप में प्रस्तुत किया जाता है। बंदिश के स्थायी और अंतरे को निर्धारित स्वररचना के अनुसार गाना आवश्यक माना जाता है। बंदिश को दोहराने की परम्परा भी इस शैली का अभिन्न अंग है। ध्रुपद की मध्यलयी प्रवृत्ति के प्रभाव के कारण इस प्रकार के ख्याल को "मुंडी ख्याल" कहा जाता है। इसमें रचना उसी ताल में प्रस्तुत की जाती है जिसमें वह मूलतः निबद्ध हो।

ग्वालियर घराने की पहचान मुख्यतः उसकी बंदिशों से होती है। ख्याल की शुरुआत में स्थायी और अंतरा क्रमबद्ध रूप से गाये जाते हैं, जिससे ध्रुपद अंग की झलक स्पष्ट अनुभव होती है। बंदिश के पश्चात् आलाप का क्रम आरम्भ होता है, जो खुली एवं स्पष्ट

* शोधार्थी, गायन विभाग, भातखंडे संस्कृति विश्वविद्यालय, लखनऊ
** शोध– निर्देशिका, गायन विभाग, भातखंडे संस्कृति विश्वविद्यालय, लखनऊ

आवाज में आकार के माध्यम से प्रस्तुत किया जाता है। राग के स्वरों का क्रमिक विस्तार करते हुए कलाकार तार सप्तक तक पहुँचता है तथा पुनः अंतरे के माध्यम से स्थायी पर लौटता है। इसके उपरांत लय को हल्का-सा तीव्र कर "बहलावा" प्रस्तुत किए जाते हैं। बहलावा में आरोह-अवरोह और स्वर-न्यास का अत्यंत संयमित प्रयोग होता है, जो तीनों सप्तकों में राग का सौन्दर्य विस्तार करता है।

इस शैली में बोल-आलाप का भी अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। बोल-आलाप के दौरान बंदिश के शब्दों को इस प्रकार स्वरबद्ध किया जाता है कि उनका भाव और अर्थ दोनों स्पष्ट हों। इसके बाद विभिन्न प्रकार की "उपज" प्रस्तुत की जाती है, जिनमें छोटी-छोटी स्वर-संगतियों अथवा मुर्कियों का प्रयोग किया जाता है। इसके पश्चात् तानों का क्रम आरम्भ होता है, जो ग्वालियर घराने की एक अत्यंत विशिष्ट पहचान है।

ग्वालियर घराने में तानों का प्रस्तुतीकरण एक निश्चित क्रम में किया जाता है। सर्वप्रथम सरल तान, तत्पश्चात् फिरत तान, आरोही तान, अवरोही तान, रागांग तान तथा अंत में गमकयुक्त तानों का प्रयोग होता है। उल्लेखनीय तथ्य यह है कि तानों का क्रम विभिन्न रागों में समान रहते हुए भी प्रत्येक राग का स्वरूप पूर्णतः सुरक्षित रहता है। उदाहरणस्वरूप भूपाली और देशकार जैसे समान स्वर-संरचना वाले राग भी अपनी विशिष्ट पहचान बनाए रखते हैं। इस घराने की तानों में दोहरे स्वरों का प्रयोग भी अत्यंत महत्वपूर्ण माना जाता है, जिससे गायकी में शक्ति और प्रभाव उत्पन्न होता है।

तानों के उपरांत बोल-तानें प्रस्तुत की जाती हैं, जिनमें बंदिश के शब्दों को लयात्मक तानों के रूप में विस्तार दिया जाता है। सम पर पहुँचने के लिए तिहाइयों का प्रयोग ग्वालियर गायकी की प्रमुख विशेषताओं में गिना जाता है। इस घराने में सामान्य मध्यलय को अधिक महत्व दिया गया है। अत्यधिक विलंबित अथवा अत्यधिक द्रुत लय की अपेक्षा संतुलित लय में गायन को उपयुक्त माना जाता है। तिलवाड़ा, एकताल, झूमरा तथा आड़ा चौताल जैसी तालों का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है।

ग्वालियर घराने की गायकी में राग-शुद्धता को अत्यधिक महत्व प्राप्त है। तिरोभाव और आविर्भाव जैसी जटिल प्रक्रियाओं का प्रयोग यहाँ अपेक्षाकृत कम किया जाता है, क्योंकि इस शैली का उद्देश्य राग के शुद्ध और स्पष्ट रूप को प्रस्तुत करना है। इसी कारण राग की मर्यादा और स्वर-व्यवस्था को सुरक्षित रखते हुए उसका क्रमिक विकास किया जाता है।

ग्वालियर घराने की गायकी की सबसे बड़ी विशेषता उसकी सरलता और स्पष्टता है। इसमें स्वर-उच्चारण अत्यंत शुद्ध, संतुलित और कलात्मक होता है। राग की प्रस्तुति में अनावश्यक पेंचदारी या अत्यधिक अलंकरण को स्थान नहीं दिया जाता। संयम, मर्यादा, गंभीरता और प्रभावशीलता इस शैली के मूल तत्व हैं। सीधे-सादे स्वरों में राग को प्रभावपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना अत्यंत कठिन कार्य है, और यही ग्वालियर गायकी की वास्तविक शक्ति मानी जाती है।

ख्याल गायकी के विकास में ग्वालियर घराने का ऐतिहासिक योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस शैली में ध्रुपद की गंभीरता, धमार की गाम्भीर्यपूर्ण लय, टप्पे की तानें, ठुमरी की कोमलता तथा तराने की लयात्मकता का सुंदर समन्वय दिखाई देता है। इस कारण यह शैली अत्यंत समृद्ध और व्यापक बन गई है।

ग्वालियर घराने की गायकी में खुली तथा बुलंद आवाज में गायन को विशेष महत्व दिया जाता है। आवाज को दबाकर गाने की अपेक्षा उसे पूर्ण विस्तार के साथ प्रस्तुत किया जाता है। इसी कारण इस शैली को कभी-कभी "मर्दानी गायकी" भी कहा जाता है। स्वर-साधना इस घराने की शिक्षा-पद्धति का प्रमुख आधार है। तीनों सप्तकों में स्वर को स्थिर और सुरीला बनाने के पश्चात् ही आलाप, तान और गमक का अभ्यास कराया जाता है। तानों के अभ्यास में बड़े दाने, छोटे दाने तथा गमकयुक्त तानों का पृथक अभ्यास आवश्यक माना जाता है, क्योंकि अनुचित अभ्यास से स्वर की शुद्धता प्रभावित हो सकती है। डॉ. अरूण बांगरे के मतानुसार ग्वालियर घराने के प्रतिनिधि गायक ध्रुपद के समान गायन के पूर्व राग का विस्तार नहीं करते, बल्कि सीधे बंदिश से ही गायन प्रारम्भ करते हैं।

ख्याल गायकी की प्रमुख विशेषता यह है कि इसमें ध्रुपद की भाँति चार अंगों—स्थायी, अंतरा, संचारी और आभोग—का प्रयोग नहीं किया जाता, बल्कि केवल स्थायी और अंतरा के माध्यम से ही सम्पूर्ण प्रस्तुति को विकसित किया जाता है। ख्याल गायक सर्वप्रथम बंदिश के स्थायी एवं अंतरे को पूर्ण रूप से प्रस्तुत करता है, उसके पश्चात् राग का क्रमिक विस्तार आरम्भ होता है। इस विस्तार में आलाप और तानों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। विभिन्न प्रकार की तानों, स्वर-विन्यासों तथा कल्पनाशील प्रस्तुति द्वारा कलाकार अपनी रचनात्मक क्षमता और कलात्मक सौन्दर्य का परिचय देता है, जो ख्याल गायकी की मौलिक पहचान मानी जाती है।

ग्वालियर घराने की ख्याल शैली में विलंबित ख्याल का विशेष स्थान है, किन्तु इसकी प्रस्तुति अत्यधिक मंद गति में नहीं की जाती। यहाँ विलंबित लय संतुलित एवं मध्यम प्रकृति की होती है, जिससे राग की स्पष्टता और गायकी का प्रभाव दोनों सुरक्षित रहते हैं। लयकारी का प्रयोग मुख्यतः बोल-तान और बोल-आलाप के माध्यम से किया जाता है, जिससे प्रस्तुति में विविधता और आकर्षण

उत्पन्न होता है। ग्वालियर परम्परा में बड़े ख्याल के उपरांत छोटा ख्याल गाने की परिपाटी प्रचलित है। कई कलाकार अंत में भजन, तराना अथवा अष्टपदी प्रस्तुत कर गायन का समापन करते हैं, जिससे कार्यक्रम में भावात्मक एवं लयात्मक संतुलन बना रहता है।

ग्वालियर घराने की पारम्परिक गायकी अत्यंत अनुशासित एवं क्रमबद्ध मानी जाती है। इसमें स्थायी और अंतरा को विधिवत गाने के पश्चात् उसी के आधार पर राग का विस्तार किया जाता है। रागांग के अनुसार तीनों सप्तकों में न्यास स्वरों का क्रमिक विकास, विलंबित आलाप, तत्पश्चात् मध्यलय में स्वर-संगतियों की बढ़त, गीत के शब्दों द्वारा बोल-आलाप, सरल एवं सपाट रागांग तानें, गमकयुक्त तानों का प्रयोग, द्रुत लय में फिरत तानें तथा बोल-तानें—ये सभी तत्व ग्वालियर घराने की प्रस्तुति-पद्धति के अभिन्न अंग हैं। इन सभी प्रक्रियाओं का निर्वाह निश्चित नियमों और शास्त्रीय मर्यादाओं के अंतर्गत किया जाता है।

ग्वालियर घराने की समृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण इसकी बंदिश-परम्परा भी है। इस घराने के अनेक आचार्यों और कलाकारों ने विभिन्न रागों तथा ख्याल गायकी के लिए उत्कृष्ट बंदिशों की रचना की, जिससे इसकी शैली में मौलिकता और गहनता का विकास हुआ। यही कारण है कि ग्वालियर घराने की गायकी आज भी अपने पारम्परिक सिद्धान्तों और विशिष्ट बंदिशों के कारण विशिष्ट पहचान रखती है।

इस घराने की "टकसाली बंदिशें" विशेष रूप से प्रसिद्ध हैं। इन बंदिशों में ध्रुपद अंग की गंभीरता और शास्त्रीयता स्पष्ट दिखाई देती है। ग्वालियर घराने की अनेक बंदिशें इतनी सशक्त और रागप्रधान होती हैं कि केवल स्थायी और अंतरा गाने मात्र से ही राग का स्वरूप श्रोताओं के समक्ष स्पष्ट हो जाता है। यही गुण ग्वालियर घराने को अन्य घरानों से अलग करते हुए उसे ख्याल गायकी की एक आदर्श एवं प्रभावशाली परम्परा के रूप में स्थापित करता है।

स्व. श्री तुषार पंडित के अनुसार -विभिन्न तालों में निबद्ध बड़े और छोटे ख्याल के अतिरिक्त ग्वालियर घराने के गायक कठिन परिश्रम एवं लगन के कारण, तरानों में विलम्बित लय के, मध्य लय के, द्रुत व अतिद्रुत लय के तराने, त्रिवट, चतुरंग, टप्पा शैली में टप्पा ख्याल, टप्पा तराने, टप्पा ठुमरी, ठुमरियों में बोलबाँट की ठुमरी और बंदिश की ठुमरी, मराठी व हिन्दी भाषा के पद, अष्टपदी गायन पर भी अधिकार प्राप्त कर लेते हैं। ग्वालियर घराने में गुरू कृपा से इनका भंडार भरा पड़ा है।

ग्वालियर घराने की गायकी का एक अत्यंत महत्वपूर्ण आधार उसकी शुद्ध वाणी, संतुलित प्रस्तुति और अनुशासित मुद्रा है। इस शैली में गायन करते समय कलाकार शरीर की अनावश्यक चेष्टाओं से बचते हुए केवल स्वर, लय और साहित्य की स्पष्ट अभिव्यक्ति पर ध्यान केंद्रित करता है। कठिन एवं जटिल स्वर-रचनाओं के बावजूद शब्दों की शुद्धता और भाव की स्पष्टता को बनाए रखना इस घराने की विशिष्ट परम्परा मानी जाती है। ख्याल गायकी मूलतः कल्पनाशील गायन शैली है, अतः इसमें घराने की परम्परागत विशेषताओं के साथ कलाकार की व्यक्तिगत प्रतिभा, रचनात्मकता और कल्पना-शक्ति भी प्रकट होती है। ग्वालियर की ख्याल शैली एक ओर जहाँ प्राचीन शास्त्रीय सिद्धांतों पर आधारित है, वहीं दूसरी ओर अपनी सरसता और सौंदर्य के कारण अत्यंत लोकप्रिय भी रही है।

वाद्य-संगत की दृष्टि से ग्वालियर घराने में तानपुरा और तबले को प्रमुख स्थान प्राप्त है। संगत वाद्यों में सारंगी तथा बेला को विशेष उपयुक्त माना जाता है, क्योंकि इस शैली में स्वरों के बीच मींड, सूत और सूक्ष्म श्रुतियों का प्रयोग अधिक होता है। एक स्वर से दूसरे स्वर तक अत्यंत कोमल और प्रभावशाली ढंग से पहुँचने की यह पद्धति श्रोताओं के मन को गहराई से प्रभावित करती है। तीनों सप्तकों में विस्तृत मींड का प्रयोग ग्वालियर गायकी की प्रमुख विशेषताओं में सम्मिलित है। चूँकि सदारंग और अदारंग जैसे महान संगीतज्ञ उच्च कोटि के बीनकार थे, इसलिए गमक और मींड इस शैली के अभिन्न तत्व बन गये।

ग्वालियर घराने की गायकी एवं अन्य घरानों का तुलनात्मक विवेचन

वर्तमान समय में ख्याल गायकी भारतीय शास्त्रीय संगीत की सबसे लोकप्रिय शैली मानी जाती है। ध्रुपद के पश्चात् ख्याल गायकी का विकास विभिन्न घरानों में हुआ और प्रत्येक घराने ने अपनी विशिष्ट शैली विकसित की। किसी घराने ने स्वर-लगाव को महत्व दिया, तो किसी ने लयकारी को। प्रत्येक घराने की पहचान उसकी प्रस्तुति-पद्धति, स्वर-विन्यास, आलाप, तानों तथा कलात्मक दृष्टिकोण से होती है। कलाकार अपने कंठ की प्रकृति तथा घराने की परम्परा के अनुरूप आलाप, तान, खटका, मुर्की, गमक और मींड का प्रयोग करता है। यही कारण है कि प्रत्येक घराने की गायकी में अपनी स्वतंत्र पहचान दिखाई देती है।

किसी भी घराने की गायकी को आत्मसात करने के लिए कंठ-साधना अत्यंत आवश्यक मानी जाती है। गायन कला का आधार स्वर और कंठ है, इसलिए प्रत्येक घराने के कलाकार अपनी शैली के अनुरूप स्वर-साधना द्वारा अपने गले को तैयार करते हैं। ग्वालियर घराने का विकास राजाश्रय में हुआ था, जिसके कारण इसमें अनुशासन और नियमों का विशेष महत्व दिखाई देता है। यहाँ गायन की परम्पराओं और शास्त्रीय नियमों का अत्यंत सावधानी से पालन किया जाता है। इस घराने के कलाकारों ने प्रारम्भ से ही व्यापक गुरु-

शिष्य परम्परा स्थापित की, जिसके परिणामस्वरूप इसकी गायकी देशभर में प्रचारित हुई। ग्वालियर शैली का प्रभाव बाद में विकसित अन्य ख्याल घरानों पर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

रागों का चयन

ग्वालियर घराने में सामान्यतः प्रचलित तथा सम्पूर्ण जाति के रागों को प्राथमिकता दी जाती है। अल्हैया बिलावल, यमन, शंकरा, छायानट, कामोद आदि राग इस परम्परा में विशेष रूप से गाये जाते हैं। इसके विपरीत आगरा घराने में प्रचलित रागों के साथ कुछ दुर्लभ रागों का भी प्रयोग होता है, जैसे—रामकली, गारा कान्हड़ा और केदार। जयपुर घराना अपनी जटिल और अप्रचलित राग-परम्परा के लिए प्रसिद्ध है, जिसमें पट बिहाग, त्रिवेणी, नायकी कान्हड़ा, जैतश्री, पटमंजरी आदि राग प्रमुख हैं। किराना घराने में पूर्वांग प्रधान रागों—जैसे पूरिया, तोड़ी, दरबारी और मालकौंस—का अधिक प्रचलन है। पटियाला घराना भी मुख्यतः प्रचलित रागों पर आधारित है, जबकि दिल्ली घराने में यमन, पूरिया, पूरियाधनाश्री, रागेश्री, चन्द्रकौंस और मियाँ की तोड़ी जैसे रागों को विशेष महत्व दिया जाता है।

स्वर उच्चारण एवं आवाज की विशेषता

ग्वालियर घराने की गायकी में खुली, बुलंद और प्रभावशाली आवाज को अत्यंत महत्व दिया जाता है। कृत्रिम या दबे हुए स्वर को दोष माना जाता है। तीनों सप्तकों में स्वर-साधना के माध्यम से आवाज को धारदार, शक्तिशाली और स्थिर बनाया जाता है। इसी कारण ग्वालियर गायकी को प्रायः "मर्दानी गायकी" भी कहा जाता है। आगरा घराने की गायकी में भी खुलापन और जोरदार स्वर-प्रयोग देखने को मिलता है, क्योंकि उस पर ग्वालियर शैली का प्रभाव स्पष्ट है। आगरा शैली में स्वर अपेक्षाकृत निचले स्तर पर स्थापित किए जाते हैं तथा गायन में बल और विस्तार दिखाई देता है। इसके विपरीत जयपुर घराने में आकारयुक्त आवाज तथा गले की विशेष तैयारी को अधिक महत्व दिया जाता है।

बंदिशों की विशेषता

ग्वालियर घराने में बंदिशों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। कलाकार अपने गुरु से प्राप्त परम्परागत बंदिशों को पूर्ण शास्त्रीय अनुशासन के साथ प्रस्तुत करता है। स्थायी और अंतरा को संपूर्ण रूप में गाने के पश्चात् ही राग-विस्तार आरम्भ किया जाता है। इस घराने की बंदिशों के मुखड़े अत्यंत आकर्षक एवं रागप्रधान होते हैं। केवल बंदिश सुनते ही श्रोता राग का स्वरूप पहचान सकता है। यहाँ की परम्परागत बंदिशें राग की प्रकृति और स्वरूप को स्पष्ट करने में सक्षम होती हैं।

राग-विस्तार और आलाप

ग्वालियर शैली में राग-विस्तार बंदिश की क्रमिक बढ़त के माध्यम से किया जाता है। आलाप अपेक्षाकृत सरल, संतुलित और रागांग प्रधान होते हैं। मींड, गमक, मुर्की और बहलावे का प्रयोग अत्यंत संयमित रूप में किया जाता है। बोल-आलाप और बोल-तानें भी मर्यादित एवं संतुलित ढंग से प्रस्तुत की जाती हैं।

तानों की विशेषता

ग्वालियर घराने की तानें अपनी स्पष्टता, शक्ति और दानेदार स्वरूप के लिए प्रसिद्ध हैं। यहाँ गमकयुक्त, अवरोही तथा रागांग तानों का विशेष महत्व है। सपाट तान, कूटतान, चढ़ती-उतरती तान, अलंकारयुक्त तान, लटक-झटक की तान, जबड़े की तान तथा द्रुत एवं अतिद्रुत तानों का अत्यंत प्रभावशाली प्रयोग किया जाता है। इन तानों की प्रस्तुति इतनी संतुलित और सुसंगठित होती है कि वे मानो मोतियों की सुंदर माला की तरह प्रतीत होती हैं।

लय और ताल की विशेषता

ग्वालियर घराने की गायकी में लय और ताल का अत्यंत संतुलित प्रयोग मिलता है। यहाँ साधारण विलंबित तथा मध्य-विलंबित लय को विशेष महत्व दिया जाता है। स्वर और लय का सामंजस्य इस शैली की प्रमुख पहचान है। कलाकार ताल की अतीत और अनागत क्रियाओं का भी प्रभावशाली प्रयोग करते हैं। तिलवाड़ा, झूमरा, आड़ा चौताल तथा एकताल जैसी तालें इस घराने में अधिक प्रचलित हैं। लय की स्थिरता और तालबद्धता ग्वालियर घराने की गायकी को गंभीरता, अनुशासन और कलात्मक गरिमा प्रदान करती है।

निष्कर्ष- ग्वालियर घराना भारतीय शास्त्रीय संगीत की ख्याल गायकी की सबसे प्राचीन एवं प्रभावशाली परम्पराओं में से एक है। इस घराने ने ख्याल गायकी को एक व्यवस्थित, शास्त्रीय एवं अनुशासित स्वरूप प्रदान किया। इसकी गायकी में ध्रुपद की गंभीरता, राग की शुद्धता, स्वर की स्पष्टता तथा लय की संतुलित संरचना का अद्भुत समन्वय दिखाई देता है। ग्वालियर घराने की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें राग का प्रस्तुतीकरण सरल किन्तु अत्यंत प्रभावशाली ढंग से किया जाता है, जिससे श्रोता सहज रूप से राग के स्वरूप को ग्रहण कर सके।

इस शोध से यह निष्कर्ष प्राप्त होता है कि ग्वालियर घराने की बंदिशें, आलाप, बोल-तानें तथा रागांग तानें न केवल शास्त्रीयता की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं, बल्कि वे संगीत की सौंदर्यपरक अभिव्यक्ति को भी समृद्ध बनाती हैं। इस घराने की गायकी में अनावश्यक जटिलता की अपेक्षा संयम, मर्यादा और संतुलन को अधिक महत्व दिया गया है। यही कारण है कि ग्वालियर शैली अन्य घरानों के लिए भी प्रेरणास्रोत बनी और उसका प्रभाव आगरा, जयपुर तथा अन्य ख्याल परम्पराओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। गुरु-शिष्य परम्परा, स्वर-साधना, राग-शुद्धता तथा बंदिश-प्रधान प्रस्तुति के कारण ग्वालियर घराना आज भी भारतीय संगीत जगत में अपनी विशिष्ट पहचान बनाए हुए है। वर्तमान समय में भी इसकी गायकी संगीत शिक्षार्थियों एवं कलाकारों के लिए आदर्श मानी जाती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ग्वालियर घराना केवल एक गायन शैली नहीं, बल्कि भारतीय संगीत की सांस्कृतिक विरासत और शास्त्रीय गरिमा का सशक्त प्रतीक है।

सन्दर्भ सूची

1. बांगरे, डॉ. अरूण, ग्वालियर घराना, कला मंदिर प्रकाशन, ग्वालियर, पृ. 29।
2. पंडित, स्व. श्री तुषार, भारतीय संगीत के महान संगीतकार : पं. शंकर पंडित, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 41।
3. भातखंडे, पं. विष्णु नारायण, हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति (भाग-1), संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 112।
4. परांजपे, शरच्चन्द्र , भारतीय शास्त्रीय संगीत का इतिहास, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, पृ. 210।
5. ठाकुर, पं. ओंकारनाथ, संगीतांजलि (भाग-4), इंडियन प्रेस, प्रयागराज, पृ. 56।
6. देवधर, बी. आर., संगीतकार, अखिल भारतीय गांधर्व महाविद्यालय मंडल, मुंबई, पृ. 88।
7. रातनजंकर, पं. एस. एन., अभिनव गीतांजलि, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 73।
8. शर्मा, प्रो. स्वतंत्र, हिन्दुस्तानी संगीत के घराने एवं परम्पराएँ, राधा पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, पृ. 134।
9. नाडकर्णी, मोहन, भारतीय संगीत के प्रमुख घराने, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 95।
10. पलुस्कर, पं. विष्णु दिगम्बर, संगीत बालप्रकाश, संगीत कार्यालय, हाथरस, पृ. 52।

शांकर अद्वैत वेदान्त में परमार्थ सत्

त्रिशूलधारी सिंह*
डॉ. अखण्ड प्रताप सिंह**

आचार्य शंकर के पूर्ववर्ती वेदान्त दर्शन में यद्यपि भर्तृहरि, गौड़पादाचार्य आदि ने ब्रह्म का परमार्थ सत् के रूप में निरूपण किया है, परन्तु ब्रह्म रूप परमार्थ सत् को स्थापित और निरूपित करने का पूर्ण श्रेय आचार्य शंकर को ही है। एतदर्थ वे अद्वैत ब्रह्मवाद के प्रस्थापक और प्रवर्तक माने जाते हैं। इन्होंने अपने जीवन काल में ब्रह्मसूत्रभाष्य, वृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय आदि ग्यारह प्रमुख उपनिषद् भाष्य, गीता भाष्य, उपदेश साहस्त्री, विवेक चूड़ामणि, आत्मबोध, आत्मानात्मविवेक आदि बहुत प्रकार के ग्रन्थों रचना की, परन्तु उनके अद्वैत ब्रह्मवाद के प्रवर्तन का आधार मुख्यतः ब्रह्मसूत्र भाष्य और उपनिषद् भाष्य ही है। इन्हीं ग्रन्थों के माध्यम से उन्होंने अपने सिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत किया है।

आचार्य शंकर अद्वैत ब्रह्मवादी हैं। वे एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता मानते हैं और इसके अतिरिक्त वे किसी अन्य पदार्थ की सत्ता नहीं मानते।[1] उसके अनुसार एकमेव ब्रह्म अद्वैत रूप में स्थित था। दैत रूप में जो जगत्, जीव आदि ज्ञात होते हैं, वे सभी इसके विवर्त और मिथ्या रूप हैं। इस परमार्थ सत् ब्रह्म को निरूपित करते हुए ये कहते हैं कि यह ब्रह्म चैतन्य स्वरूप है। चैतन्य के कारण यह सर्वव्यापक है। ब्रह्म सदा सुखस्वरूप, अद्वितीय, अनन्त, नित्य, एकमात्र सत्ता है।[2] इस तत्व का ज्ञान हो जाने से सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[3] आत्मा ही ब्रह्म है। एतदर्थ अद्वैत वेदान्त के विश्वतत्व रूपी आत्मा की सत्ता स्वयंसिद्ध है। साधारणतया जो अनुभव की उत्पत्ति या सिद्धि के लिए आवश्यक होती है, उसकी यथार्थता तो स्वीकार ही करनी चाहिए। अद्वैत वेदान्त की आत्मा का अस्तित्व मात्र इसी परिप्रेक्ष्य में माना जाता है, क्योंकि चैतन्य स्वरूप आत्मा ही एक ऐसा तत्व है, जिसको आधार बनाये बिना किसी प्रकार की अनुभूति या सिद्धि नहीं हो सकती। परन्तु इस ज्ञानरूप आत्मा या ब्रह्म को अपने ज्ञान के लिए दूसरे के प्रकाश की आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वह तो स्वयं प्रकाश है।[4] अतः आत्मा या ब्रह्म स्वयंसिद्ध है। डेकार्ट भी आत्मा को स्वयंसिद्ध मानते हुए कहता है कि "अहं चिन्तयामि अतः अस्मि" इसमें "अस्मि" के कारण ही चिन्तन करना हो रहा है और यह "अस्मि" आत्मा रूप "मैं" का द्योतक है।

परमार्थ सत् का स्वरूप

"एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति" से उद्‌बोधित आचार्य शंकर का परमार्थ सत् अद्वैत ब्रह्म है। अद्वैत ब्रह्म कहने का तात्पर्य यह है कि इस ब्रह्मरूप परमार्थ सत् में किसी प्रकार का द्वैत या भेद नहीं है।[5] साधारणतया भेद तीन प्रकार का माना जाता है–स्वगत भेद, सजातीय भेद और विजातीय भेद। स्वगत भेद वह भेद है, जो स्वयं में पाया जाता है। जैसे, शरीर का भेद हाथ, पैर, मुख आदि। सजातीय भेद एक ही जाति के अन्तर्गत पाया जाता है। जैसे मनुष्य जाति के अन्तर्गत राम, श्याम, मोहन आदि नाम वाले व्यक्तियों में पाया जाने वाला भेद। विजातीय भेद वह भेद है, जो एक जाति का दूसरी जाति से होता है। जैसे, गाय, मनुष्य, पक्षी आदि। परमार्थ सत् इन तीन प्रकार के भेदों से मुक्त है। उसमें "स्वगत भेद" नहीं है क्योंकि वह निर्गुण और चैतन्यस्वरूप है। वह सजातीय भेद से भी रहित है क्योंकि अद्वैत वेदान्त में मात्र इसी ब्रह्म की एकमेव सत्ता मानी गयी है। इसके अतिरिक्त, मात्र एक ही सत्ता ब्रह्म को मानने के कारण वह विजातीय भेद से भी परे है, क्योंकि श्रुतियों में इस ब्रह्म को "एकमेवाद्वितीयम्"[6] कहा गया है। विशिष्टाद्वैतवादी रामानुजाचार्य ब्रह्म में स्वगत भेद स्वीकार करते ब्रह्म को उसमें विशिष्ट मानते हैं।

अद्वैत वेदान्त में परमार्थ सत् के ज्ञान हेतु दो लक्षण बताये गये हैं–तटस्थ लक्षण और स्वरूप लक्षण। इन दोनों लक्षणों का संक्षिप्त परिचय एक उदाहरण[7] द्वारा देते हुए आचार्य शंकर कहते हैं कि एक गड़ेरिया रंगमंच पर राजा बनकर अभिनय करता है। वह सम्पूर्ण देश जीतकर उस पर शासन करता है। यहाँ वास्तविक दृष्टि से वह व्यक्ति गड़ेरिया है। यह उसका स्वरूप लक्षण है किन्तु नाटक की दृष्टि से वह व्यक्ति

* शोध छात्र, प्राचीन इतिहास, सल्तनत बहादुर पी0जी0 कॉलेज, बदलापुर, जौनपुर
** शोध निर्देशक, प्रोफेसर/प्राचार्य, प्राचीन इतिहास, सल्तनत बहादुर पी0जी0 कॉलेज, बदलापुर, जौनपुर

(गड़ेरिया) राजा विजेता और शासक के रूप में प्रकट होता है। वह उसका तटस्थ लक्षण है। ये लक्षण इसी प्रकार परमार्थ सत् पर भी घटित होते हैं और इससे परम सत् का पूर्णरूप से ज्ञान हो जाता है।

परमार्थ सत् का तटस्थ लक्षण

तटस्थ लक्षण वह लक्षण है, जो लक्ष्य के पूरे समय तक न रहकर अर्थात् जब तक लक्ष्य रहे तब तक न रहकर बल्कि अल्प समय तक उसमें रहता है और लक्ष्य को अन्य पदार्थों से भिन्न सिद्ध करता है। जैसे–गन्ध पृथ्वी का तटस्थ लक्षण है[8] क्योंकि वह महाप्रलय के समय पृथ्वी के परमाणुओं में नहीं रहता और न उत्पत्ति काल के घटादिकों में ही रहता है तथापि गन्धगुण पृथ्वी की जल आदि द्रव्यों से भिन्न सिद्ध करता है इसलिए गन्ध को पृथ्वी का तटस्थ लक्षण मानना उचित है। ब्रह्म के तटस्थ लक्षण का निरूपण ब्रह्मसूत्र के "जन्माद्यस्य यतः"[9] सूत्र में हुआ माना गया है, अर्थात् जन्म, स्थिति, प्रलयहेतुत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, क्योंकि ब्रह्म में उत्पत्ति स्थिति और प्रलयहेतुत्व सृष्टि की उत्पत्ति आदि काल में ही रहता है। प्रलय के बाद जगत् के न रहने से उसका कारणत्व भी उसमें (ब्रह्म) नहीं रहता। इसके अतिरिक्त जगत् का कारणत्व, ब्रह्म से भिन्न अन्य पदार्थों में सम्भव न होने से, ब्रह्म को अन्यों से पृथक् सिद्ध करता है।

आचार्य शंकर जन्माद्यस्य यतः "सूत्र" के "यतः" पद का अभिप्राय ब्रह्म से मानते हैं। वे इस सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि जो नाम रूप से अभिव्यक्त हुआ है तथा अनेक कर्ता व भोक्ताओं से संयुक्त है, जो प्रतिनियत देश और निमित्त से क्रिया और फल का आश्रय है एवं मन से भी अचिन्त्य रचना रूप वाले इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान कारण से होते हैं, वह ब्रह्म है।[10] वास्तव में जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण ब्रह्म को होना चाहिए क्योंकि वह हर प्रकार से समर्थ है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म उन गुणों से भी सम्पन्न है जो गुण एक कर्ता में होने चाहिए। साधारणतया किसी कार्य को करने के लिए कर्ता उस कार्य के विषय में ज्ञान और उस कार्य के करने की इच्छा एवं तदनुकूल प्रयत्न होना चाहिए। जैसे–कुम्हार की घट के निर्माण में घट का पूर्ण ज्ञान, घट उत्पन्न करने की इच्छा और दो कपालों का संयोग कराने वाला प्रयत्न भी रहता है, इसलिए वह घट का कर्ता है। उसी प्रकार सोपाधिक ब्रह्म या ईश्वर भी जगत् का कारण हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म को ही जगत् का अपरोक्ष ज्ञान रहता है, चूँकि वह सर्वज्ञ है, उसमें जगत् विषयक चिकीर्षा अर्थात् जगत् को उत्पन्न करने की इच्छा भी है क्योंकि श्रुतियां कहती हैं कि उसने इच्छा की कि "मैं बहुत होऊं और प्रजा उत्पन्न करूँ।"[11] ब्रह्म में जगत् को उत्पन्न करने का प्रयत्न भी है क्योंकि श्रुतियां कहती है कि उस ब्रह्म ने मन को उत्पन्न किया।[12] इस प्रकार ब्रह्म में इन तीनों विशेषताओं–वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान, उसको उत्पन्न करने की इच्छा और प्रयत्न के होने के कारण वह निःसन्देह जगत् का कारण कहा जा सकता है।

प्रधान (प्रकृति), परमाणु, अभाव, हिरण्यगर्भ, स्वभाववाद आदि की जगत् का कारण मानने के मत के संदर्भ में आचार्य शंकर का मत है कि विभिन्न विशेषणों से युक्त जगत् को यथोक्त विशेषणों से विशिष्ट ईश्वर को छोड़कर अन्य से अचेतन प्रधान से, परमाणुओं से अभाव शून्य से या हिरण्यगर्भ से उत्पत्ति आदि की संभावना नहीं हो सकती और इसी प्रकार स्वभाव से भी उत्पत्ति आदि की संभावना नहीं हो सकती।[13] अचेतन प्रधान को जगत् के कारण के रूप में स्वीकार न करना उचित ही है क्योंकि सांख्य दर्शन प्रधान (प्रकृति) को जगत् का कारण मानते हुए भी उसकी जड़ स्वीकार किया गया है, अतः उससे इस विचित्र जगत् की उत्पत्ति असम्भव है। प्रधान के चेतन न होने से उसमें कर्तृत्व के गुण–अपरोक्ष ज्ञान, चिकीर्षा और प्रयत्न भी नहीं हो सकते। परमाणुओं को भी जगत् का कारण न मानना उचित है। यद्यपि नैयायिक जगत् के उत्पत्ति आदि का कारण अनेक और विचित्र परमाणुओं को मानते हैं, परन्तु जड़ परमाणु इन विचित्र जगत् की रचना में स्वयं प्रवृत्त नहीं हो सकते, अतः वे कारण नहीं है। अभाव को जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण न स्वीकार करना भी सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि शून्य अभावरूप है और यह विचित्र रचनात्मक जगत् भावरूप है, अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति की कल्पना कथमपि सम्भव नहीं हो सकती। यदि शून्य को भावरूप जगत् का कारण माना जाय तो बालू से तेल की उत्पत्ति भी माननी पड़ेगी। अतः शून्य जगत् का कारण नहीं हो सकता। श्रुतियां भी मुक्त कण्ठ से इसका विरोध प्रदर्शित करती हुई कहती हैं कि प्रथम तो असत् अस्तित्व ही नहीं है।[14]अतः असत् से सत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती।[15] वहां सर्वप्रथम अर्थात् सृष्टि की आदि में एकमेव सत् की ही कल्पना गयी है।[16] एतदर्थ असत्–सत् आदि जो भी पदार्थ है, वे सभी उसी से उत्पन्न हुए हैं। हिरण्यगर्भ अर्थात् ब्रह्मा को भी जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण न मानना ठीक ही प्रतीत होता है, क्योंकि श्रुतियां ब्रह्म को अन्य जीवों के समान उत्पत्ति मानती है[17] और विचित्र और जड़, जगत् की भी उत्पत्ति मानी गयी है, अतः ब्रह्म सीमित होते हुए इस विचित्र संसार की रचना कैसे कर सकता है? अर्थात् वह जगत की उत्पत्ति में समर्थ नहीं हो सकता, क्योंकि कर्ता के लिए यह आवश्यक है कि उस रचनात्मक वस्तु का अपरोक्ष ज्ञान,

चिकीर्षा और प्रयत्न अवश्य हो किन्तु ब्रह्म को सीमित होने के कारण इस विचित्र जगत् का अपरोक्ष ज्ञान कभी भी नहीं हो सकता। ब्रह्म स्वयं कार्य है और कार्य होने से सीमित भी है। एतदर्थ हिरण्यगर्भ जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्वभाव को जगत् की उत्पत्ति आदि का कारण नहीं माना जा सकता। चार्वाक दर्शन स्वभाव को ही जगत् की उत्पत्ति का आदि कारण मानता है, जो उचित नहीं प्रतीत होता, क्योंकि स्वभाव जड़ है और जगत् विचित्र है तथा विभिन्न प्रकार के क्रिया–फल का आश्रय है। इसमें जीव एक निश्चित नियम के अनुसार अपने किये गये कर्म के फल का उपभोग करता है। इसमें कहीं, किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं है। अतः जगत् के इस स्वरूप पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि इसका कारण कोई चेतन सत्ता ही होगा, जड़ तत्व इसका कारण कभी नहीं हो सकता। एतदर्थ स्वभाव को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता। इसके अतिरिक्त कर्ता के होने के लिए उस तत्व में रचनात्मक पदार्थ का अपरोक्ष ज्ञानादि होना चाहिए किन्तु स्वभाव जड़ है, अतः उसमें अपरोक्षज्ञानादि का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः वह जगत् का कारण नहीं हो सकता।

शांकर वेदान्त के अनुसार एकमात्र सोपाधिक ब्रह्म ही जगत् के जन्म के स्थिति और संहार का कारण है जिसका ज्ञान अनुमान पर आधारित माना जाता है। आचार्य शंकर का मत है कि जगत् के कारणत्व रूप में ब्रह्म की कल्पना अनुमान पर आधारित नहीं है। नैयायिक ईश्वर (ब्रह्म) के अस्तित्व की सिद्धि जगत् के परिप्रेक्ष्य में अनुमान के आधार पर करते हैं।[18] साधारणतया अनुमान प्रमाण पर आधारित होता है तथा व्याप्ति सम्बन्ध में हेतु और साध्य का प्रत्यक्ष होना आवश्यक है। जहां तक जगत् के परिप्रेक्ष्य में ब्रह्म की सत्ता की सिद्धि का अनुभाव कदापि सम्भव नहीं है क्योंकि यदि जगत् का प्रत्यक्ष होता है, तो ब्रह्म रूप साध्य का प्रत्यक्ष कभी भी नहीं हो सकता क्योंकि प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अतीन्द्रिय पदार्थ के ज्ञान में असमर्थ हैं। अतः जगत् जन्मादि कारणत्व के रूप में ब्रह्म की सिद्धि अनुमान पर आधारित नहीं है। आचार्य शंकर के अनुसार ब्रह्म के अस्तित्व की सिद्धि श्रुतियों से होती है। "जन्मास्य यतः" अर्थात् "जिससे जन्मादि सम्पन्न होता है" यह वाक्य अनुमान प्रमाण की ओर इंगित नहीं करता, अपितु उन श्रुतियों की ओर संकेत करता है, जिनमें ब्रह्म को जगत के जन्मादि का कारण बताया गया है।[19] क्योंकि श्रुति ही एकमात्र ऐसा साधन है, जिससे अतीन्द्रिय पदार्थों की सिद्धि हो सकती है और श्रुतियों में कहा गया है कि जिससे ये सभी जीव उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न होकर जिसमें निवास करते हैं तथा अन्ततः जिसमे लय को भी प्राप्त करते हैं, वह ब्रह्म है। आनन्द से ही यह समस्त संसार उत्पन्न होता है। आचार्य शंकर ब्रह्म के कारणत्व की सिद्धि में अनुमान का सर्वथा त्याग नहीं करते प्रत्युत वे वेदान्त वाक्यों के अनुकूल और वेदान्त वाक्यों के अर्थ ग्रहण दृढ़ता प्रदान करते वाले अनुमान को स्वीकार करते हैं क्योंकि श्रुति ने भी सहायक रूप में तर्क–अनुमान को स्वीकार किया है।[20]

संदर्भ

1. विवेक चूडामणि, श्लोक 228.
2. प्र0सू0शां0भा0, 3.2.36.
3. केन, उप0, शां0भा0, 1.4.
4. वही।
5. वि0चू0, श्लोक 406.
6. छा0उप0, 6.2.2.
7. ब्र0सं0, शां0भा0, 2.1.18
8. वेदान्त परिभाषा, विष्यपरिच्छेद, पृ0 328.
9. ब्रह्मसूत्र, 1.1.2.
10. ब्र0सू0, शां0भा0, 1.1.2.
11. तै0उप0, 2.6.
12. बृह0उप0, 1.2.1.
13. ब्र0सू0, शां0भा0, 1.1.2.
14. गीता, 2.16.
15. छा0उप0, 6.2.2.
16. वही, 6.2.1.
17. श्वेताश्वतर उपनिषद्, 6.12.
18. ब्र0सू0, शां0भा0, 1.1.2.
19. वही।
20. वही।